वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४६ अंक ११ नवम्बर २००८

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २००८

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४६
अंक ११

वार्षिक ६०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २७५/-

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए – रु. ४००/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष: ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४६ **नवम्बर २००८** **अंक ११**

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

तथा वदन्तं शरणागतं स्वं
संसारदावानलतापतप्तम् ।
निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्रदृष्ट्या
दद्यादभीतिं सहसा महात्मा ।।४१।।

अन्वय – तथा संसार-दावानल-ताप-तप्तम् वदन्तं स्वं शरणागतं (शिष्यं) कारुण्य-रसार्द्र-दृष्ट्या निरीक्ष्य महात्मा सहसा अभीतिं दद्यात् ।

अर्थ – गुरु को चाहिये कि इस प्रकार संसार-रूपी दावानल* के ताप से दग्ध होकर अपने शरण में आये हुए (शिष्य) के करुणा से द्रवित दृष्टि से देखकर तत्काल अभय प्रदान करे ।

विद्वान् स तस्मा उपसत्तिमीयुषे
मुमुक्षवे साधु यथोक्तकारिणे ।
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय
तत्त्वोपदेशं कृपयैव कुर्यात् ।।४२।।

अन्वय – सः विद्वान् उपसत्तिं ईयुषे साधु-यथोक्त-कारिणे प्रशान्त-चित्ताय शमन्विताय तस्मै मुमुक्षवे कृपया एव तत्त्व-उपदेशं कुर्यात् ।

अर्थ – वे गुरु ऐसे मुमुक्षु को कृपापूर्वक आत्म-तत्त्व का उपदेश प्रदान करें, जो अनन्य भाव से शरणागत हो, जो सम्यक् रूप से आज्ञा-पालन में तत्पर हो, जिसका चित्त शान्त हो, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका हो ।

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्युपायः
संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः ।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं
तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ।।४३।।

अन्वय – (हे) विद्वन् ! मा भैष्ट, संसार-सिन्धोः तरणे उपायः अस्ति, अपायः न अस्ति । येन एव यतयः अस्य पारं याताः, तम् एव मार्ग तव निर्दिशामि ।

अर्थ – हे विद्वान् ! तू भयभीत मत हो । तेरा विनाश नहीं होगा । संसार-रूपी सागर से पार जाने का उपाय है । अब मैं तुझे वह मार्ग दिखाता हूँ, जिस पर चलकर योगी लोग इसके पार चले गये ।

अस्त्युपायो महान्कश्चित्संसारभयनाशनः ।
तेन तीर्त्वा भवाम्भोधिं परमानन्दमाप्स्यसि ।।४४।।

अन्वय – संसार-भय-नाशनः कश्चित् महान् उपायः अस्ति, तेन भव-अम्भोधिं तीर्त्वा परमानन्दं आप्स्यसि ।

अर्थ – संसार-रूपी भय का नाश करने वाला एक महान् उपाय है । इसके द्वारा तू संसार-सागर को पार करके परम आनन्द की उपलब्धि करेगा ।

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम् ।
तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ।।४५।।

अन्वय – वेदान्तार्थ-विचारेण ज्ञानम् उत्तमम् जायते । अनु तेन आत्यन्तिक संसार-दुःखनाशः भवति ।

अर्थ – वेदान्त के तात्पर्य पर विचार करने पर उत्तम ज्ञान उत्पन्न होता है । इसके बाद उसके द्वारा संसार-रूपी दुःख का समूल नाश हो जाता है ।

* दावानल – वन में लगनेवाली आग

शिव-आह्वान

पुराणों की प्रतीकात्मक भाषा में
सागर मन्थन की कथा है,
आज – इस कलयुग में भी, एक बार फिर
पाश्चात्य तथा प्राच्य असुर-देवों ने मिलकर,
भौतिक-विज्ञान-रूपी मन्दराचल को मथानी और
प्रयोगशाला-रूपी नाग-वासुकी को डोरी बनाकर,
प्रकृति-रूपी सागर को मथा है ।।

सर्वप्रथम निकला है – अमृत से पूरित घट
पान किया सारे सुर-असुरों ने छक-छककर,
लक्ष्मी भी प्रकटी हैं, धारण कर स्वर्णिम पट,
सुख-विलास-भोगों के साधन-सुविधा बनकर ।।

उच्चैःश्रवा घोड़ा है कारों का काफिला,
जम्बो-जेटयानों में ऐरावत भी मिला ।
प्रकटे हैं धन्वन्तरि, करने आयुष्य-दान
लिये हुए हाथों में औषधि औ शल्य-ज्ञान,
मानो इतिहास का ही आ पहुँचा सुख-विहान ।।

मन्थन के अन्त में है निकला विष हालाहल
उग्रता, आतंकवाद मचा रहे कोलाहल ।
भावी की शंका से लोग सभी महा त्रस्त,
आधे जन कुपोषण अशिक्षा से शापग्रस्त ।
मची हुई त्राहि-त्राहि वसुधा पर सभी ओर,
नभ में घहराते हैं, काले घन घोर-घोर ।।
टैंक, बम, स्पर्धा, फिर शोषण औ महायुद्ध,
हैं निराश दुनिया के सारे ही जन प्रबुद्ध ।
बिल्कुल अनिश्चित है, सारे जग का कृतित्व,
संकट में पड़ा हुआ प्राणिमात्र का अस्तित्व ।।

उठो उठो, महादेव भारत, हे महाप्राण,
और कर सकेगा कौन, जगत् के जनों का त्राण !
संकट का है ये काल, धरती है शोकमग्न,
किन्तु तुम दिगम्बर तन, बैठे हो ध्यानमग्न ।।

करुण नेत्र खोलो तो, करुणाघन करुणाकर,
मानसिक प्रदूषण का हालाहल पान करो,
मैत्री औ करुणा के पथ पर संचालित कर,
जगती को इस युग में पूर्ण अभय दान करो ।।

– विदेह

शिक्षा में धर्म का समावेश

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

मैं धर्म को शिक्षा का अन्तरतम अंग समझता हूँ।[१५]

सबका मूल धर्म है, वही मुख्य है। (शिक्षा में) धर्म ही भात के समान है, शेष सब वस्तुएँ सब्जी-चटनी जैसी हैं। केवल सब्जी और चटनी खाने से अपच हो जाता है; और केवल भात खाने से भी वैसा ही होता है।[१६]

धर्म-प्रचार के बाद उसके साथ-साथ लौकिक विद्या तथा अन्य आवश्यक विद्याएँ आप ही आ जायेंगी; पर यदि तुम बिना धर्म के लौकिक विद्या ग्रहण करना चाहो, तो मैं तुम्हें स्पष्ट बता देता हूँ कि भारत में तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा, वह लोगों के हृदय में स्थान नहीं बना सकेगा।[१७]

धर्म-केन्द्रित शिक्षा की योजना

सबसे पहले हमें एक मन्दिर की जरूरत है, क्योंकि हिन्दू लोग सब कार्यों में धर्म को ही प्रथम स्थान देते हैं। तुम कहोगे कि ऐसा होने पर हिन्दुओं के विभिन्न मतावलम्बियों में परस्पर झगड़े होने लगेंगे। पर मैं तुमको किसी विशेष मत के अनुसार मन्दिर बनाने को नहीं कहता। वह इन साम्प्रदायिक भेद-भावों के परे होगा। उसका एकमात्र प्रतीक होगा ॐ, जो कि हमारे किसी भी सम्प्रदाय के लिये सर्वोच्च प्रतीक है। यदि हिन्दुओं में कोई ऐसा सम्प्रदाय हो, जो इस ओंकार को न माने, तो जान लो कि वह हिन्दू कहलाने योग्य नहीं है। वहाँ सब लोग अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार ही हिन्दुत्व की व्याख्या कर सकेंगे, पर मन्दिर हम सबके लिये एक ही होना चाहिये। अपने सम्प्रदाय के अनुसार जो देवी-देवताओं की प्रतिमा-पूजा करना चाहें, अन्यत्र जाकर करें, पर इस मन्दिर में वे औरों से झगड़ा न करें। इस मन्दिर में वे ही धार्मिक तत्त्व समझाये जायेंगे, जो सब सम्प्रदायों में समान हैं। साथ ही यहाँ पर हर सम्प्रदायवाले को अपने मत की शिक्षा देने का अधिकार होगा, पर एक प्रतिबन्ध रहेगा कि वे अन्य सम्प्रदायों से झगड़ा नहीं कर सकेंगे। बोलो, तुम क्या कहते हो? संसार तुम्हारी राय जानना चाहता है, उसे यह सुनने का समय नहीं है कि तुम औरों के विषय में क्या विचार प्रकट कर रहे हो। औरों की बात छोड़, तुम अपनी ओर ध्यान दो।

दूसरी बात यह है कि इस मन्दिर के साथ ही एक और संस्था हो, जिसमें धार्मिक शिक्षक और प्रचारक तैयार किये जायँ और वे सभी घूम-फिरकर धर्म-प्रचार करने भेजे जायँ। पर ये केवल धर्म का प्रचार न करें, वरन् उसके साथ-साथ लौकिक शिक्षा का भी प्रचार करें। जैसे हम द्वार-द्वार जाकर धर्म का प्रचार करते हैं, वैसे ही हमें लौकिक शिक्षा का भी प्रचार करना पड़ेगा। यह काम सहज ही हो सकता है। शिक्षकों तथा धर्म-प्रचारकों द्वारा हमारे कार्य का विस्तार होता जायेगा और क्रमश: अन्य स्थानों में ऐसे ही मन्दिर स्थापित होंगे और इस प्रकार यह कार्य पूरे भारत में फैल जायेगा। यही मेरी योजना है।[१८]

नकरात्मक नहीं सकरात्मक शिक्षा

जन-साधारण के सामने सकरात्मक आदर्श रखना होगा। 'नहीं-नहीं' की भावना मनुष्य को दुर्बल बना डालती है। देखते नहीं, जो माता-पिता दिन-रात बच्चों के लिखने-पढ़ने पर जोर देते रहते हैं, कहते हैं, 'इसका कुछ सुधार नहीं होगा, यह मूर्ख है, गधा है', आदि-आदि – उनके बच्चे अधिकांशत: वैसे ही बन जाते हैं। बच्चों को अच्छा कहने से और प्रोत्साहन देने से समय आने पर वे स्वयं ही अच्छे बन जाते हैं। जो नियम बच्चों के लिये हैं, वे ही उन लोगों के लिये भी हैं, जो भाव-राज्य के उच्च अधिकारी की तुलना में उन शिशुओं की तरह हैं। यदि जीवन के रचनात्मक भाव उत्पन्न किये जा सकें, तो साधारण व्यक्ति भी मनुष्य बन जायेगा और अपने पैरों पर खड़ा होना सीख सकेगा। मनुष्य भाषा, साहित्य, दर्शन, कविता, शिल्प आदि अनेकानेक क्षेत्रों में जो प्रयत्न कर रहा है, उसमें वह अनेक गलतियाँ करता है। आवश्यक है कि हम उसे उन गलतियों को न बतलाकर प्रगति के मार्ग पर धीरे-धीरे अग्रसर होने के लिये सहायता दें। गलतियाँ दिखाने से लोगों की भावना को ठेस पहुँचती है तथा वे हतोत्साह हो जाते हैं। श्रीरामकृष्ण को हमने देखा है – जिन्हें हम त्याज्य मानते थे, उन्हें भी वे प्रोत्साहित करके उनके जीवन की गति मोड़ देते थे। शिक्षा देने का उनका ढंग बड़ा अद्भुत था।[१९]

न्यूयार्क में मैं आइरिश उपनिवेशवासी को आते हुये देखा करता था – पददलित, कान्तिहीन, नि:सम्बल, अति निर्धन और अशिक्षित – साथ में एक लाठी और उसके सिर पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक छोटी-सी गठरी। उसकी

चाल में भय और आँखों में शंका होती थी। छह महीने में ही यह दृश्य बिल्कुल बदल जाता था। अब वह तनकर चलता था, उसका वेश बदल गया था, उसकी चाल और चितवन में पहले का भय नहीं दिखायी पड़ता। ऐसा क्यों हुआ? हमारा वेदान्त कहता है कि वह आइरिश अपने देश में चारों तरफ घृणा से घिरा हुआ रहता था – सारी प्रकृति एक स्वर में उससे कह कही थी – "बच्चू, तेरे लिये और कोई आशा नहीं है; तू गुलाम ही पैदा हुआ और सदा गुलाम ही बना रहेगा।" आजन्म सुनते-सुनते बच्चू को उसी का विश्वास हो गया। बच्चू ने अपने को सम्मोहित कर डाला कि वह अति नीच है। इससे उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया। पर जब उसने अमेरिका में पैर रखा, तो चारों ओर से ध्वनि उठी – "बच्चू, तू भी वही आदमी है, जो हम लोग हैं। मनुष्य ने ही सब काम किये हैं; तेरे और मेरे जैसे मनुष्य ही सब कुछ कर सकते हैं। धीरज धर।" बच्चू ने सिर उठाया और देखा कि बात तो ठीक ही है – बस, उसके अन्दर सोया हुआ ब्रह्म जाग उठा; मानो प्रकृति ने स्वयं ही कहा हो – "उठो, जागो, रुको मत, जब तक मंजिल पर न पहुँच जाओ।"

हमारे लड़के जो शिक्षा पा रहे हैं, वह बड़ी निषेधात्मक है। स्कूल के लड़के कुछ भी नहीं सीखते, बल्कि जो कुछ अपना है, उसका भी नाश हो जाता है और इसका फल होता है – श्रद्धा का अभाव। जो श्रद्धा वेद-वेदान्त का मूलमंत्र है, जिस श्रद्धा के बल से यह संसार चल रहा है – उसी श्रद्धा का लोप! गीता में कहा है – **अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति** – अज्ञ, श्रद्धाहीन तथा संशययुक्त व्यक्ति का नाश हो जाता है, इसीलिये हम मृत्यु के इतने पास हैं। अब उपाय है – शिक्षा का प्रसार। पहले आत्मज्ञान। इससे मेरा तात्पर्य जटाजूट, दण्ड, कमण्डलु और पहाड़ों की कन्दराओं से नहीं, जो इस शब्द के उच्चारण करते ही याद आते हैं। तो मेरा मतलब क्या है?... द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, शैव-सिद्धान्त, वैष्णव, शाक्त, यहाँ तक कि बौद्ध और जैन आदि भारत में जितने सम्प्रदाय स्थापित हुये हैं, सभी इस विषय पर सहमत है कि इस जीवात्मा में अव्यक्त भाव से अनन्त शक्ति निहित है; चींटी से लेकर सर्वोच्च सिद्ध पुरुष तक सभी में वह आत्मा विराजमान है, भेद केवल उसकी अभिव्यक्ति की मात्रा में है। ... जैसे किसान जैसे खेतों की मेड़ तोड़ देता है और एक खेत का पानी दूसरे खेत में चला जाता हैं, वैसे ही आत्मा भी आवरण टूटते ही प्रकट हो जाती है। उपयुक्त अवसर और उपयुक्त देश-काल मिलते ही उस शक्ति का विकास हो जाता है परन्तु चाहे विकास हो, या न हो, वह शक्ति प्रत्येक जीव – ब्रह्मा से लेकर तिनके तक में – विद्यमान है। सर्वत्र जा-जाकर इस शक्ति को जगाना होगा।

यह हुई पहली बात। दूसरी बात यह है कि इसके साथ-साथ शिक्षा भी देनी होगी।[२०]

पहले हमें गुरुगृह-वास और वैसी ही अन्य शिक्षा-प्रणालियों को पुनर्जीवित करना होगा। आज हमें आवश्यकता है वेदान्तयुक्त पाश्चात्य विज्ञान की, ब्रह्मचर्य के आदर्श, और श्रद्धा तथा आत्मविश्वास की।[२१]

आज हमें जरूरत है – विदेशी नियंत्रण हटाकर, हमारे विविध विद्याओं का अध्ययन हो, और साथ-साथ अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान भी सीखाया जाय। हमें उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये अभियांत्रिकी की शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी, ताकि देश के युवक नौकरी ढूँढ़ने के बजाय अपनी जीविका के लिये समुचित धनोपार्जन कर सकें और दुर्दिन के लिये कुछ बचाकर रख भी सकें।[२२]

दुर्बल बनानेवाली शिक्षा नहीं चाहिये

द्वैतवाद के कई प्रकारों के विषय में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु जो कोई उपदेश दुर्बलता की शिक्षा देता है, उस पर मुझे विशेष आपत्ति है। स्त्री-पुरुष बालक-बालिका, जिस समय दैहिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक शिक्षा पाते हैं, उस समय मैं उनसे एकमात्र यही प्रश्न करता हूँ – "क्या तुम्हें इससे बल प्राप्त होता है?" क्योंकि जानता हूँ, एकमात्र सत्य ही बल प्रदान करता है। मैं जानता हूँ एक सत्य ही प्राणप्रद है। सत्य की ओर गये बिना हम अन्य किसी भी उपाय से वीर नहीं हो सकते, और वीर हुए बिना हम सत्य के समीप नहीं पहुँच सकते। इसीलिये जो मत, जो शिक्षा-प्रणाली मन तथा मस्तिष्क को दुर्बल कर दे और मनुष्य को अन्धविश्वासों से भर दे, जिससे वह अन्धकार में टटोलता रहे, ख्याली पुलाव पकाता रहे और सब प्रकार की अजीबो-गरीब और अन्धविश्वास-पूर्ण बातों की तह छानता रहे, उस मत या प्रणाली को मैं पसन्द नहीं करता, क्योंकि मनुष्य पर उसका परिणाम बड़ा भयानक होता है। ऐसी प्रणालियों से कभी कोई उपकार नहीं होता। प्रत्युत वे मन में रोगात्मकता ला देती हैं, उसे दुर्बल बना देती हैं – इतना दुर्बल कि कालान्तर में मन सत्य को ग्रहण करने और उसके अनुसार जीवन-गठन करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है।[२३]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१५. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९), खण्ड ४, पृ. २६८; **१६**. वही, खण्ड ८, पृ. २२९; **१७**. वही, खण्ड ५, पृ. ११८; **१८**. वही, खण्ड ५, पृ. ११८; **१९**. वही, खण्ड ६, पृ. ११२; **२०**. वही, खण्ड ६, पृ. ३११-१२; **२१**. वही, खण्ड ८, पृ. २२९; **२२**. वही, खण्ड ८, पृ. २३१; **२३**. वही, खण्ड २, पृ. १८८

श्री हनुमत्-चरित्र (८/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

श्रद्धेय स्वामीजी ने निवेदन किया कि परमहंसदेव, माँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के जीवन के सन्दर्भ में मानस पर चर्चा की जाय। अभी-अभी बताया गया कि स्वामी विवेकानन्दजी को तो हनुमानजी के अवतार के रूप में, भगवान शिव के अवतार के रूप में देखा जाता है। सचमुच ही दोनों में कुछ विलक्षण समानताएँ, अद्भुत साम्य विद्यमान हैं। यद्यपि प्रत्येक युग की अपेक्षा तथा आवश्यकता के अनुकूल ही ईश्वर का अवतरण होता है, पर उनकी भूमिकाओं में कुछ भिन्नता और कुछ समता होती है। कल जो प्रसंग शुरू हुआ था, उसके सन्दर्भ के साथ हनुमानजी के चरित्र के माध्यम से आपके समक्ष कुछ रखने की चेष्टा की जायेगी।

हनुमानजी के चरित्र में एक है साधना का पक्ष और दूसरा है कृपा का पक्ष। भगवान श्रीरामकृष्ण की जीवनी – उनके लीलामृत को जिन्होंने पढ़ा होगा, स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन-चरित्र को जिन्होंने पढ़ा होगा, उनमें भी विचारों की वही साम्यता और समग्रता आपको मिलेगी, जो मानस की विचार-धारा में है। स्वामी निखिलेश्वरानन्दजी ने स्मरण कराया कि जैसे हनुमानजी महाराज ने समुद्र पार करके लंका की यात्रा की, स्वामी विवेकानन्दजी ने भी कभी अपनी अमेरिका-यात्रा को उसी परिप्रेक्ष्य में देखा था। यदि उसे स्थूल रूप में भी देखें और यदि विचार के रूप में देखें, तो आपको कुछ अनोखे सूत्र मिलेंगे। हनुमानजी ने लंका की यात्रा की थी और स्वामीजी ने अमेरिका की यात्रा की थी। इस दृष्टि से दोनों में एक अनोखा साम्य है कि लंका भी उस त्रेतायुग में समृद्धि तथा ऐश्वर्य की पराकष्ठा पर पहुँचा हुआ राष्ट्र था और ठीक वैसे ही अमेरिका भी समृद्धि का केन्द्र है। वह साम्य तो है ही, पर इसको दोनों ही सन्दर्भों में विचार करके देखें।

रामायण का युद्ध सचमुच का ऐतिहासिक युद्ध नहीं है। इतिहास में अनेक युद्ध लड़े जाते रहे हैं। अभी लड़े जा रहे हैं और भविष्य में भी लड़े जाते रहेंगे। किन्तु वस्तुत: यदि गहराई से विचार करके देखें, तो युद्ध का मूल रूप क्या है?

आजकल समाचार पत्रों में बड़ा वाद-विवाद चलता रहता है कि रामायण में जिस लंका का वर्णन है, वह कहाँ है? कभी-कभी लोग आशा करते हैं कि इनको तो लंका का ठीक-ठीक पता होगा ही, मुझसे यह आग्रह करते हैं कि मैं बताऊँ कि मेरी दृष्टि में वस्तुत: लंका कहाँ है! यह स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि उस लंका के बारे में, उसकी भौगोलिक स्थिति के बारे में मुझे सही ज्ञान नहीं है, परन्तु गोस्वामीजी ने बताया कि वस्तुत: यदि व्यक्तिगत युद्ध और विजय को ही महत्त्व दिया जाय, तब तो भगवान श्रीराम के पहले भी रावण को हरानेवाले व्यक्ति थे।

बालि ने तो रावण को बड़ी सरलता से हरा दिया था। श्रीराम द्वारा जो युद्ध किया गया, वह तो एक बड़ा लम्बा युद्ध है। बालि ही नहीं, सहस्रार्जुन ने भी रावण को बड़ी आसानी से हरा दिया। पर हम सहस्रार्जुन की पूजा नहीं करते, उसकी जयध्वनि नहीं करते, या फिर बालि को अपना आदर्श नहीं मानते! इसका मूल कारण यह है कि महत्त्व वस्तुत: व्यक्ति के रूप में रावण का नहीं, अपितु रावणत्व का है। जिन व्यक्तियों ने रावण को हराया, उन्होंने रावण नाम के व्यक्ति को हराया, रावणत्व को परास्त नहीं किया।

रामायण में इसको बड़ी सांकेतिक भाषा में, बड़ी व्यंग्य भरी पद्धति में लिखा गया है। वह समझ में आनेवाली बात है कि बालि ने जब रावण को हरा दिया, तो उसे मार क्यों नहीं डाला? आप कह सकते हैं कि उसमें मारने की शक्ति नहीं रही होगी। पर इसको यदि आध्यात्मिक सन्दर्भ में देखें, तो इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुत: बालि चाहता था कि रावण जीवित रहे, रावण मरे नहीं। बड़ी विचित्र-सी बात लगती है, सहस्रार्जुन भी चाहता है कि रावण जीवित रहे।

यह बात अटपटी लगने पर भी हमारे जीवन का सत्य यही है कि जब भी हम बुरे लोग या बुराई के विनाश की बात सोचते हैं, तो हम चाहे जितने जोर से किसी व्यक्ति को बुरा कह दें, बुराई की निन्दा कर दें, पर कहीं-न-कहीं हम बुराई को जीवित रखना चाहते हैं। रामायण के धनुष-यज्ञ के प्रसंग में इसका एक व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है। भगवान राम ने प्रात:काल लक्ष्मण से पूछा – "लक्ष्मण, क्या सूर्य निकल आया?" उन्होंने कहा – "हाँ, एक सूर्य निकल आया, पर अभी दूसरे सूर्य की जरूरत है। यह जो धनुष का अन्धकार है, इसे दूर करने के लिये सारे विश्व के लोग एकत्र हुये हैं, लेकिन ...।" कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता है कि बुराइयों को दूर करने का इतना अधिक प्रयास किया जा रहा

है, पर उसका जैसा विनाश होना चाहिये, वैसा नहीं होता। इसका कारण क्या है? लक्ष्मणजी बोले – "ये राजा चन्द्रमा, नक्षत्रों और तारों के समान हैं। ये अन्धकार को दूर नहीं करेंगे, बल्कि ये उसे बनाये रखना चाहते हैं। अन्धकार को तो आपकी भुजा ही दूर करेगी।"

चन्द्रमा में प्रकाश है, तारों में प्रकाश है, पर यदि आपकी उनसे गहरी मित्रता हो, यदि आपका हृदय कवि का हृदय हो और आप उनसे बात कर सकें, या उनके हृदय में पैठकर जानने की चेष्टा करें कि चन्द्रमा जब प्रकाश लेकर आता है, तो क्या वह चाहता है कि अन्धकार दूर हो जाय, तारे क्या चाहते हैं कि अन्धकार दूर हो जाय? यह काव्य की शैली है, इसे विज्ञान की दृष्टि से मत देखियेगा। विज्ञान तो अपनी पद्धति से उत्तर देगा – दूरी है या उनमें प्रकाश कम है। परन्तु यदि हम चन्द्रमा और तारों के हृदय में पैठकर यह जानने की चेष्टा करे कि क्या वे चाहते हैं कि अन्धकार दूर हो जाय? तो वे यही कहेंगे – "नहीं, नहीं, यदि अन्धकार दूर हो गया, तो हम चमकेंगे कहाँ? इसलिये अँधेरा भी बना रहे और हम चमकते भी रहें।" यही हमारी बुराई से लड़ाई का व्यंग्य है। हम आधे मन से बुराई से लड़ते हैं और आधे मन से बुराई को बचाना चाहते हैं। हर क्षेत्र में यही मनोवृत्ति है। डॉक्टर को लें, वैद्य को लें और यही क्यों चाहे विद्वान् हो या वक्ता हो, सबकी एक ही समस्या है। डॉक्टर चाहता है कि रोगी चंगा हो जाय, परन्तु क्या वह कभी यह चाहेगा कि संसार से रोग ही मिट जाय? उसके सामने एक बहुत बड़ी समस्या है – रोगी अच्छे होंगे, तो अन्य रोगी आयेंगे और उनसे डॉक्टर को लाभ होगा। पर यदि रोग ही मिट जायें, तो उसके पास कौन आवेगा? इसी प्रकार मान लीजिये एक प्रवचन करनेवाला है। वह कभी नहीं चाहेगा कि सबको इतना ज्ञान हो जाय कि प्रवचन सुनने की आवश्यकता ही न रहे। उसे ऐसा लगना स्वाभाविक है, क्योंकि जब किसी को प्रवचन सुनने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, तो फिर उसका प्रवचन कौन सुनेगा? वह तो यही सोचेगा – **मुर्खो बुद्धस्य जीविका** – मूर्ख ही तो बुद्धिमान व्यक्ति की आजीविका है। वह चाहेगा कि बुद्धिमत्ता के साथ मूर्खता भी बनी रहे।

बालि क्यों चाहता है कि रावण न मरे, इसका व्यंग्यात्मक संकेत अंगद के चरित्र में मिलता है। अंगद ने कहा – "हम तुम्हें मार डालते, परन्तु तुम्हीं हमारे पिताजी के यश के पात्र – बर्तन हो। बर्तन टूट जाये तो उसमें रखी हुई वस्तु कहाँ जायेगी? तुम्हें देखकर लोगों को याद आता है कि यही वह रावण है जिसे बालि ने हराया था। तुम्हें देखकर पिताजी की याद आ जाती है। तुम मेरे पिता के यश के स्मारक हो।"

बुराई के नाश में कहीं-न-कहीं हमारा अहंकार आड़े आ जाता है और हम उस अहंकार को छोड़ नहीं पाते, उससे मुक्त नहीं हो पाते। और अहंकार सहित किया हुआ कोई भी प्रयत्न सर्वदा अधूरा ही होता है। इसमें रंचमात्र सन्देह नहीं।

यदि आप भगवान श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन का विस्तार से अध्ययन करें और मानस के विविध प्रसंगों पर दृष्टि डालें, तो आपको जो एक बड़े महत्त्व का संकेत मिलेगा। हम सभी जानते हैं कि हनुमानजी ने समुद्र पार किया था। स्वामी विवेकानन्दजी ने भी समुद्र पार किया और एक अकेले व्यक्ति के रूप में अमेरिका गये। इसमें भी बड़ा साम्य है। हनुमानजी की यात्रा समुद्र के किनारे से होती है और वे भी अकेले जाते हैं, बिल्कुल अकेले ! उनके साथी तो अनेक हैं, पर उन लोगों की समस्याएँ उन्हें आगे बढ़ने में बाधा उत्पन्न करती है। समस्या यह थी कि सम्पाती ने बताया कि सीताजी हैं, परन्तु यह जो विशाल समुद्र है, इसके बीच में लंका है और लंका में अशोक वृक्ष के नीचे सीताजी विराजमान हैं। उन तक पहुँचने के लिये इस समुद्र को पार करना होगा। इस समुद्र को लाँघना होगा।

प्रत्येक बन्दर यही कहता है कि इस विशाल समुद्र को लाँघ पाना हमारे लिये सम्भव नहीं है। यह समुद्र कौन-सा है? इसके पीछे क्या संकेत है? यह तो सामने लहराता हुआ स्थूल समुद्र है और दूसरा समुद्र वह है जिसे गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका में 'देहात्म-बोध' का समुद्र कहा है।

यदि आप किसी व्यक्ति से पूछिये कि तुम कौन हो? या यदि वह स्वयं अपने विषय में विचार करता है – मैं कौन हूँ, तो उसके मन में यही उत्तर आता है – यह जो शरीर है, मैं वही हूँ। आप भी जब किसी व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में देखते हैं, तो उसे शरीर के रूप में देखते हैं और वह व्यक्ति भी अपने आप को शरीर के रूप में ही देखता है। जब व्यक्ति स्वयं को शरीर के रूप में देखता है, तो यह शरीर-भाव उसे थोड़ा आगे भी बढ़ाता है और जितना आगे बढ़ाता है, उससे अधिक नीचे भी गिराता है।

एक सूत्र है – धर्म का, भक्ति और ज्ञान का जो श्रीगणेश होता है, वह शरीर से होता है। शास्त्रों ने कह दिया – **शरीरं आद्यम् खलु धर्म-साधनम्** – धर्म के लिये शरीर की रक्षा की जानी चाहिये। यह एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। यदि व्यक्ति का शरीर ही स्वस्थ नहीं होगा, तो वह धर्म का पालन भी कैसे कर सकता है? परन्तु प्रश्न यह है कि कहीं ऐसा तो नहीं होगा, जैसा कि लंका में हुआ।

जन-जन में व्याप्त आज की विचारधारा जिसका केन्द्र अमेरिका को कहा जा सकता है। उस विचारधारा का एक संकेत मिलता है – हनुमानजी लंका में जाकर वहाँ सीताजी को ढूँढ़ने लगे। इस सूत्र पर ध्यान दीजिये। रामायण में इस काण्ड का नाम सुन्दरकाण्ड है। कुछ विचित्र-सा लगता है ! इसके नामकरण का क्या तात्पर्य हो सकता है? सुन्दरकाण्ड

क्या है? इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि सीताजी के लिये कहा गया कि वे सुन्दरता को भी सुन्दर बनाने वाली हैं –

सुंदरता कहुँ सुंदर करई ।। १/२३०/७

श्रीराम ने जब पुष्प-वाटिका में सीताजी को देखा, तो बोले कि इनको सुन्दरी कहना उचित नहीं, ये तो सुन्दरता को भी सुन्दर बनानेवाली हैं। भगवान ने इन शब्दों में सीताजी की प्रशंसा की। दूसरी ओर रावण के जीवन में भी सुन्दरता के प्रति आकर्षण है, आसक्ति है। इसीलिये रावण ने जब भी सुना कि विश्व में कहीं कोई कन्या या नारी सुन्दरी है, तो वह निश्चित रूप से यही मानता था कि उसे तो मेरे राजमहल में होना चाहिये। गोस्वामीजी ने लिखा – उसने देवताओं, यक्षों, गन्धर्वों, किन्नरों, नागों की कन्याओं और अनेक सुन्दर नारियों को अपनी भुजा के बल से लाकर विवाह कर लिया था –

देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि ।
जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि । १/१८२

वह कहता – या तो तुम सीधे विवाह करो, नहीं तो मैं अपने बाहुबल से तुम्हें बाध्य करूँगा। इस प्रकार रावण ने लंका में सौन्दर्य एकत्र किया। विश्व का सारा सौन्दर्य मानो लंका में ही था। विश्व की सारी समृद्धि भी मानो लंका में ही थी। कहा जाता है – सोने की लंका चार सौ कोस की थी; और इसकी आप कल्पना कर लीजिये कि लंका में कितनी अधिक समृद्धि और सौन्दर्य विद्यमान था। लंका के नागरिक बड़े स्वस्थ, बड़े बुद्धिमान और बड़े विद्वान् थे। जहाँ समृद्धि हो, स्वास्थ्य हो, सौन्दर्य हो और शिक्षा हो। जहाँ ये सारी वस्तुयें विद्यमान हों। स्वभावत: यही लगता है कि क्या इससे बढ़कर कोई आदर्श राष्ट्र हो सकता है? हनुमानजी ने यही तो देखा – सुख, सम्पत्ति, पुत्र, सेना, सहायक, जय, प्रताप, बल, बड़ाई – दिन-पर-दिन बढ़ते जाते थे –

सुख संपत्ति सुत सेन सहाई ।
जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ।।
नित नूतन सब बाढ़त जाई ।। १/१८०/१-२

इससे बढ़कर उन्नत राज्य भला और क्या होगा? परन्तु रावण ने जब सुना कि विश्व में सीताजी का सौन्दर्य अद्वितीय है, अनुपम है और सूर्पणखा ने उसके हृदय में यह भावना उत्पन्न करने की चेष्टा की कि – भले ही तुम्हारे राजमहल में इतनी सुन्दरियाँ हैं, पर विश्व के सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य से तुम अब भी वंचित हो। वैसे तो सूर्पणखा राम के सामने स्वयं को ही विश्वसुन्दरी घोषित करती है। उसने राम से यही कहा था – विश्व में न तो तुम्हारे समान कोई सुन्दर पुरुष है और न मेरे समान कोई सुन्दरी नारी है। लगता है कि ब्रह्मा ने मेरे लिये ही तुम्हारी रचना की होगी। मुझ जैसी सुन्दरी के लिये कोई सुन्दर चाहिये, तुम जैसे सुन्दर के लिये सुन्दरी चाहिये।

सुन्दरता का आकलन करने के लिये हमारी पूरी दृष्टि देह की ओर चली जाती है। हम जब कहते हैं कि वह बड़ा सुन्दर है, तो इस आधार पर कहते हैं कि उसका रूप कैसा है, रंग कैसा है, आँखें कैसी हैं, कान कैसे हैं। सौन्दर्य के प्रति यह दृष्टि क्या है? दैहिक सौन्दर्य उत्कृष्ट वस्तु है या नहीं? सचमुच ही दैहिक सौन्दर्य में एक अनुपम आकर्षण होता है। परन्तु महत्त्व इस बात का है कि सौन्दर्य का यह आकर्षण व्यक्ति को किस दिशा में ले जाता है !

भगवान श्रीरामकृष्ण के लीला-प्रसंग में मैं पढ़ रहा था – युवावस्था में वे बड़े ही सुन्दर थे और एक बार वे कहीं जाने के लिये तैयार हुए। लाल किनारे का बड़ा सुन्दर वस्त्र उनको धारण कराया गया। किसी ने उन्हें पान दिया, तो उन्होंने खा लिया। जब वे निकले, तो दोनों ओर बड़ी भीड़ एकत्र हो गई। उन्होंने बड़े आश्चर्य से पूछा कि आज यह इतनी भीड़ क्यों हो रही है? उनके साथ के सेवकों तथा भक्तों ने कहा – महाराज, आपको देखने के लिये। वे बोले – यहीं रहता हूँ, ये मुझे रोज ही तो देखते हैं। वे लोग बोले – "महाराज, आप सुन्दर तो हैं ही, पर आज इस वस्त्र में और आपके होठों में पान की जो लाली है, वह इतना सुन्दर दिख रहा है कि लोग आपको देखने के लिये आकर्षित हो रहे हैं। इसीलिये इतने लोग आपको देखने आ रहे हैं।" श्रीरामकृष्ण क्षुब्ध होकर लौट गये, सारा वस्त्र उतारकर फेंक दिया और बोले – यदि यही मेरे प्रति लोगों का आकर्षण का केन्द्र है, इसी में उनको सौन्दर्य दिखाई दे रहा है कि वस्त्र बड़ा सुन्दर है, या होठों पर पान की लाली सुन्दर है, तो क्या मैं इसी सौन्दर्य का दर्शन कराने के लिये आया हूँ? फिर वे बाहर निकले ही नहीं, जहाँ जाना था वहाँ गये ही नहीं।

जब सूर्पणखा ने कहा कि मैं सुन्दरी हूँ, तो भगवान ने उसकी ओर दृष्टि उठाकर नहीं देखा। बल्कि – **सीतहिं चितइ** – सीताजी की ओर देखा, वैदेही की ओर देखा। वैदेही का अर्थ है – विदेह की कन्या। श्रीराम के हृदय में तो वैदेही के सौन्दर्य के प्रति अनुराग है। और यह जो नारी है, वह देहनगर लंका से आई हुई है। एक ओर देहनगर का सौन्दर्य है और दूसरी ओर विदेहनगर का सौन्दर्य। देहनगर के सौन्दर्य की ओर तो भगवान ने दृष्टि उठाकर देखा भी नहीं। किसकी ओर देखा? **सीतहिं चितइ** – सीताजी की ओर देखा और धीरे से कह दिया – मेरा छोटा भाई कुमार है –

अहइ कुँआर मोर लघु भ्राता ।। ३/१७/११

सूर्पणखा निराश हो गई। उसे लगा कि राम कह रहे हैं कि मेरा तो विवाह हो गया है, तुम मेरे छोटे भाई से कर लो। सूर्पणखा ज्योंही गई और कहा कि तुम्हारे भाई ने भेजा है, मुझसे विवाह कर लो। उत्तर में लक्ष्मणजी ने पहला शब्द यही कहा – **सुनु सुंदरि** – सुन्दरी सुनो। प्रसन्न हो गई। बड़े राजकुमार ने तो एक बार भी सुन्दरी नहीं कहा; चलो, छोटा

भाई रसिक लगता है। पर आश्चर्य की बात यह है कि सुन्दरी मुझे कह रहा है, पर देख कहीं और रहा है। जब आप किसी को सुन्दर कहेंगे, तो उसी की ओर तो देखेंगे। पर लक्ष्मणजी उत्तर दे रहे हैं सूर्पणखा को और देखते हैं श्रीराम की ओर –

गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी ।
प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी ।। ३/१७/१२

सूर्पणखा के मन में उलाहना है – तुम मुझे सुन्दरी कह रहे हो, पर मेरी ओर नहीं देख रहे हो? लक्ष्मणजी मन-ही-मन मुस्कुरा रहे हैं – जब तक मैं नहीं देख रहा हूँ, तभी तक तो तुम सुन्दरी हो, जब देख लूँगा, तब लोगों के सामने तुम्हारा जो नकली रूप है, वह नहीं रह जायेगा। लक्ष्मण मूर्तिमान वैराग्य हैं। सौन्दर्य की अनुभूति राग की दृष्टि से होती है, जब वैराग्य दृष्टि उठाकर देखेगा, तब तो तुम्हारा यह देहनगर का सौन्दर्य विरूप हुए बिना नहीं रहेगा।

देहभावना मनुष्य को आकृष्ट तो करती है। कुछ कार्य करने की प्रेरणा भी देती है, पर व्यक्ति को इतना अधोगामी बना देती है, जिसका संकेत सूर्पणखा के प्रसंग में मिलता है। कई लोगों को लगता है कि इतने सत्यवादी श्रीराम झूठ कैसे बोल गये कि मेरा छोटा भाई कुमार है? सत्य-असत्य को साहित्य के सन्दर्भ में जरा गहराई से सोचना पड़ेगा।

बहुत वर्ष पहले मैं मुम्बई गया था। वहाँ प्रात:काल जो समाचार-पत्र आया, वह मराठी का था। मराठी और हिन्दी की लिपि तो एक ही है, उठाकर मैंने देखा – उसमें लिखा हुआ था कि महाराष्ट्र के किसी मंत्री ने राजीनामा दे दिया था। मैंने तो उसका अर्थ उर्दू भाषा के सन्दर्भ से ही लिया। उत्तर प्रदेश में किसी उर्दूभाषी से यदि राजीनामा का अर्थ पूछा जाय, तो यही कहेगा कि यदि किसी से झगड़ा हो जाय और बाद में समझौता हो जाय, तो कहते हैं – राजीनामा हो गया। मैंने यही सोचा कि इन मंत्री का किसी से झगड़ा रहा होगा, राजीनामा हो गया। पर बाद में जब हिन्दी पत्र मिला, तो उसमें लिखा हुआ था कि उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। तब मुझे पता चला कि त्यागपत्र को मराठी में राजीनामा कहते हैं। बस, इसी सन्दर्भ में सूर्पणखा ने जब यह कहा कि मैं कुमारी हूँ, तो वास्तव में वह कुमारी नहीं थी। उसका विवाह तो हो चुका था। उसके पति का वध तो रावण ने ही किया था, पर श्रीराम के सौन्दर्य से आकर्षित होकर उनसे विवाह करना चाहती है और श्रीराम से यही कहती है – इसीलिये मैं अब तक कुँवारी रही –

तातें अब लगि रहिउँ कुमारी ।। ३/१७/१०

श्रीराम का साहित्यिक व्यंग्य यह था कि लंका की भाषा में कुमारी की यही परिभाषा है, तो लक्ष्मण भी कुमार ही है। यह एक व्यंग्य है। वासना की वृत्ति में झूठ बोलकर भी अधिकार की वृत्ति होती है।

सूर्पणखा ने जब श्रीराम से कहा – तुम्हारे समान कोई सुन्दर नहीं है, तो उसे भविष्य की चिन्ता सताने लगी। उसने यह तो मान ही लिया था कि ये भला मुझसे विवाह का प्रस्ताव भला कैसे ठुकरा सकते हैं? मैं महाप्रतापी लंकेश्वर रावण की बहन, इतना सौन्दर्य लेकर आयी हूँ। उसे तो यह कल्पना भी नहीं थी कि राम मुझसे विवाह नहीं करेंगे। परन्तु इस समय उसे चिन्ता सताने लगी कि विवाह के बाद झगड़ा जरूर होगा। झगड़ा होगा तो राम जरूर कह देंगे कि तुम्हीं तो मेरे पास विवाह करने आई थी, मैं नहीं गया था। तो पहले से ही इसे सावधान कर दूँ। और कह दिया – मैं जो विवाह कर रही हूँ, इससे यह न समझ लेना कि तुम मेरे बराबर सुन्दर हो। ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। उसने स्पष्ट कह दिया कि मेरे बराबर सुन्दर तो कोई है ही नहीं। पर जब तुम्हें देखा, तो मुझे थोड़ा सन्तोष हुआ –

मनु माना कछु तुम्हहि निहारी ।। ३/१७/१०

श्रीराम को देखकर उसका मन थोड़ा-सा माना। केवल सूर्पणखा ही नहीं, जितने लोग संसार की सुन्दरता को देखते हैं, उनका मन श्रीराम को देखकर थोड़ा ही मानता है। मन के बँटवारे में कितने दिनों में कहाँ तक पहुँच जायेंगे, इसकी कोई सीमा नहीं है। अधिकार की वृत्ति है। भविष्य मे भी इन्हें मेरे वशीभूत ही रहना होगा। अत: जब सूर्पणखा ने लक्ष्मणजी से कहा, तो वे सीधे कह सकते थे कि मेरा तो विवाह हो चुका है। परन्तु वह पूछती है – मुझसे विवाह करोगे? उत्तर में लक्ष्मणजी कहते हैं – सुन्दरी, मैं तो उनका सेवक हूँ –

सुन्दरि सुनु मैं उन्हकर दासा ।। ३/१७/१३

यह बात कहाँ पूछ रही थी? वह तो केवल इतना कह रही थी कि मुझसे विवाह कर लीजिये और लक्ष्मणजी कहते हैं कि मैं उनका दास हूँ। लक्ष्मणजी की वाणी में बड़ा तीखा व्यंग्य था – सुन्दरी, तुम पति खोजने के लिये आई हो या दास खोजने? इसका अभिप्राय यह है कि तुम्हारी वृत्ति तो अधिकार की है, अत: तुम्हें तो दास चाहिये। कह रही हो कि तुम विवाह करना चाहती हो, परन्तु मैं जानता हूँ कि तुम्हें पति की नहीं दास की जरूरत है। बस, मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि जो राम का दास है, वह काम का दास कैसे बनेगा? लक्ष्मणजी जो संकेत देते हैं, यही से संघर्ष का श्रीगणेश होता है। यह जो वैचारिक संघर्ष होता है, इसमें एक ओर है देहवादी – जो देह की सुन्दरता, देह का केन्द्र और उस केन्द्र के आधार पर जीवन के विषय में कर्त्तव्य-कर्मों का निर्णय करता है, अर्थात् सारा सौन्दर्य देह का है और किसी के देह से हमारा जन्म हुआ है, तो उससे हमारा सम्बन्ध है। दूसरी ओर हैं सीताजी, जिनका जन्म विदेहनगर में हुआ है और वे वैदेही हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

भागवत की कथाएँ (१५)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

श्यमन्तक मणि – जाम्बवती और सत्यभामा

सूर्यदेव के पास एक श्यमन्तक मणि थी, जिसमें सूर्य के समान ही शक्ति विद्यमान थी। केवल इतना ही नहीं, वह मणि प्रत्येक दिन अपने से आठगुना सोना उत्पन्न करती थी ! फिर जहाँ इस मणि की पूजा होती; वहाँ अकाल, महामारी, ग्रहपीड़ा, शाप का भय – आदि नहीं रहते थे।

सत्राजित् ने सूर्यदेव की पूजा तथा स्तुति-प्रार्थना करके इस श्यमन्तक मणि को प्राप्त किया तथा उसे एक मन्दिर में स्थापित करके उसकी पूजा करते थे। इसके फल-स्वरूप वे प्रचुर धन-सम्पत्ति के स्वामी हुए। श्रीकृष्ण ने उनसे यदुराज के लिए इस रत्न की माँग की। परन्तु सत्राजित् ने श्रीकृष्ण के इस निवेदन को अस्वीकार कर दिया। एक दिन सत्राजित् के भ्राता प्रसेनजित् अपने गले में इस मणि की माला पहनकर घोड़े पर सवार हो शिकार करने निकले। वन में प्रवेश करते ही एक सिंह ने प्रसेनजित् को मार डाला और उस मणि को लेकर पर्वत पर चला गया। ऋक्षराज जाम्बवान निकट ही निवास करते थे। उन्होंने उस सिंह की हत्या करके मणि पर अधिकार कर लिया।

भाई प्रसेनजित् को लापता देखकर सत्राजित् ने सोचा कि श्रीकृष्ण ने उसे मारकर उस मणि को हथिया लिया है। यह बात लोगों में फैल गयी और क्रमश: श्रीकृष्ण के कानों में भी पड़ी। श्रीकृष्ण इस मिथ्या आरोप को मिटाने हेतु प्रसेनजित् को खोजते हुए वन में गए। वन में उन्हें प्रसेनजित् तथा उसके घोड़े का मृत देह मिला। कुछ दूर और आगे जाने पर श्रीकृष्ण ने पर्वत के पास एक मरा हुआ सिंह देखा। संगी-साथियों को बाहर ही रखकर वे पर्वत की गुफा में घुसे। वहाँ जाम्बवान का शिशु मणि लेकर खेल रहा था। अपरिचित व्यक्ति को देखकर शिशु के चिल्लाते ही जाम्बवान दौड़े आए। श्रीकृष्ण के साथ जाम्बवान का भीषण युद्ध हुआ।

१८ दिनों तक युद्ध करने के बाद जाम्बवान समझ गये कि श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य नहीं हैं। वे भगवान हैं। जाम्बवान श्रीरामचन्द्र के भक्त थे; वे समझ गये कि उनके इष्टदेव श्रीराम ही अब श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हुए हैं। जाम्बवान ने कहा – "मैं समझ गया हूँ कि आप वही आदि पुरुष विष्णु हैं; राम अवतार में आपने तीव्र वाणों के आघात से रावण का वध किया था; आप ही मेरे इष्टदेव श्रीरामचन्द्र हैं। देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ने स्तुति से प्रसन्न होकर जाम्बवान के मस्तक पर हाथ रखकर गम्भीर स्वर में कहा – जाम्बवान ! मैं इस मणि के लिए इस गुफा में आया हूँ। इसे देकर मुझ पर लगे मिथ्या कलंक को मिटा दो।" जाम्बवान ने प्रसन्न होकर श्यमन्तक मणि तथा इसके साथ ही अपनी पुत्री जाम्बवती को श्रीकृष्ण के हाथों में सौंप दिया।

श्रीकृष्ण को गुफा से लौटने में देरी होते देखकर द्वारका में हाहाकार मच गया। तब सभी लोग दुर्गतिनाशिनी दुर्गा की पूजा-अर्चना करने लगे। इधर श्रीकृष्ण श्यमन्तक मणि के साथ जाम्बवती को लेकर बाहर आये। द्वारका लौटकर उन्होंने मणि को छुड़ाने का विस्तृत विवरण दिया। उन्होंने समस्त द्वारकावासियों के सामने सत्राजित् को मणि सौंप दी।

सत्राजित् ने श्रीकृष्ण की झूठी निन्दा की थी। इस कारण उनकी लज्जा का अन्त न था। उन्होंने खूब सोच-विचार करने के बाद यह निश्चय किया कि वे यह मणि और उसके साथ ही रूप-गुणों में अद्वितीय अपनी पुत्री सत्यभामा को भी उपहार के रूप में श्रीकृष्ण को दे देंगे। सत्राजित् ने श्यमन्तक मणि के साथ ही अपनी पुत्री सत्यभामा को श्रीकृष्ण के हाथों में सौंप दिया। भगवान श्रीकृष्ण ने नियमानुसार सत्यभामा का पाणिग्रहण किया तथा सत्राजित् से कहा – "आप सूर्य के भक्त हैं; सूर्यदेव द्वारा आपको दी गयी मणि आपके पास ही रहे। हम लोग केवल इसके फलों का ही उपयोग करेंगे।"

इन्द्रप्रस्थ में कुन्तीदेवी से वार्तालाप

काल का प्रवाह समान गति से बहता चलता है। लाक्षा-गृह का दहन हो चुका है। दुर्योधन का षड्यंत्र सफल नहीं हुआ। पाण्डव लोग किसी प्रकार बच गए थे और वे द्रौपदी को साथ लेकर इन्द्रप्रस्थ लौट आए थे।

श्रीकृष्ण सात्यकि आदि यादवों को साथ लेकर कुन्ती देवी तथा पाण्डवों से मिलने इन्द्रप्रस्थ आए।

श्रीकृष्ण ने जब कुन्ती देवी को प्रणाम किया, तो स्नेह से उनकी आँखों में आँसू आ गए। आवेग से रुँधे कण्ठ से कुन्ती देवी पिछले सारे दु:खद घटनाओं का स्मरण करने लगीं। आँखों के जल से भीगती हुई उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा – ''तुम हम लोगों के शुभचिन्तक हो, इसीलिये अक्रूर को भेजकर हमारा समाचार लिया था, इसी से हम लोगों का कल्याण हुआ है। तुम संसार के सारे प्राणियों के हितैषी तथा उनके आत्मस्वरूप हो। तुम्हारी दृष्टि में अपने-पराये का कोई भेद नहीं है। फिर भी जो लोग तुम्हारा स्मरण-चिन्तन करते हैं, उन लोगों के हृदय में तुम नित्य विराजमान रहते हो तथा इससे उन लोगों के दु:खों का निवारण होता है।''[१]

श्रीकृष्ण ने वहाँ कई माह बिताए। खाण्डव-वन का दहन करने के समय वे अर्जुन के सारथी थे। मय राक्षस ने आग की सर्वग्रासी लपटों से मुक्त होकर पाण्डवों के लिए एक विचित्र सभागृह तैयार कर दिया था। उस सभागार को देखने गए दुर्योधन को भ्रम हो गया था। उन्होंने जल को स्थल और स्थल को जल के रूप में देखा था।

यहाँ से द्वारका लौटकर श्रीकृष्ण ने सूर्य-कन्या कालिन्दी से विवाह किया।

उषा और अनिरुद्ध

राजा बलि की कथा पहले ही कही जा चुकी है। बलि के पुत्र वाण शोणितपुर का राजा था। शिव के वरदान से हजार बाहुएँ प्राप्त करके वाण अनन्त शक्तिशाली हो गया था।

उसकी पुत्री उषा ने एक दिन श्रीकृष्ण के परम रूपवान पौत्र अनिरुद्ध को सपने में देखा। राजपुत्री (उषा) स्वप्न में दिखे उस राजपुत्र के लिए पागल जैसी हो गयी। मंत्री की पुत्री चित्रलेखा ने उषा की यह स्थिति देखकर इसका कारण जानना चाहा। उषा ने सब कुछ बता दिया, परन्तु वह तो उस राजपुत्र का नाम तक जानती नहीं थी। अब फिर क्या किया जाय? चित्रलेखा ने ही इस समस्या का समाधान कर दिया। चित्रलेखा में एक बड़ा गुण यह था कि वह सभी देशों के राजाओं तथा राजपुत्रों के चित्र बना सकती थी। चित्रलेखा एक के बाद एक चित्र बनाती जाती और राजपुत्री उषा मौन रह जाती। उसने ज्योंही श्रीकृष्ण के पौत्र (तथा प्रद्युम्न के पुत्र) अनिरुद्ध का चित्र बनाया, त्योंही सहसा उषा पुलकित होकर बोल उठी – ''हाँ, यही है वह।'' चित्रलेखा योगविद्या जानती थी। वह आकाश मार्ग से द्वारका जाकर सोये हुए राजपुत्र को बिस्तर से उठाकर शोणितपुर में उषा के पास ले आयी। अनिरुद्ध उषा के रूप-गुण पर मोहित होकर गुप्त रूप से उसी के घर में निवास करने लगे।

कुछ दिनों के भीतर ही अन्त:पुर की यह खबर राजा वाण के कानों में जा पहुँची। राजा ने अपने अनुचरों को लेकर पुत्री के कमरे में जाकर देखा, तो सूचना सत्य निकली। अनिरुद्ध उषा के साथ पासा खेल रहे थे। एक अपरिचित राजपुत्र की ऐसी ढिठाई! राजा ने उन पर आक्रमण कर दिया। अनिरुद्ध के पास कोई अस्त्र न था। उन्होंने जो कुछ भी हाथों में आया, उसी से राजा वाण के सैनिकों को खदेड़ दिया। परन्तु राजा ने अस्त्रहीन अनिरुद्ध को नागपाश में बाँध लिया।

नारद ने श्रीकृष्ण को समाचार दिया कि अनिरुद्ध शोणितपुर में राजा वाण के घर में बन्दी हो गए हैं। श्रीकृष्ण मुख्य-मुख्य वीरों को लेकर वाण के राज्य में उपस्थित हुए। प्रबल युद्ध हुआ। वाण ने अपनी सहस्र भुजाओं से असंख्य वाणों द्वारा चक्रपाणि श्रीकृष्ण को व्याकुल कर दिया। श्रीकृष्ण सारे वाणों को रोककर सुदर्शन चक्र से राजा वाण के एक-एक हाथ काटने लगे – उनके बाकी बचे केवल चार हाथ।

महादेव के वरदान से ही तो वाण राजा का इतना प्रताप था। भक्त-वत्सल महादेव दौड़े आए। उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा – ''वाण मेरा परम भक्त तथा आपके विशेष भक्त प्रह्लाद का वंशज है – आप इस पर कृपा कीजिए।''

श्रीकृष्ण ने कहा – ''प्रह्लाद और उसके वंश के राजा बलि मेरे भक्त हैं। बलि को मैंने वरदान दिया था कि उसके वंश के किसी भी व्यक्ति की मैं हत्या नहीं करूँगा। अतएव, वाण मेरे लिये अवध्य है। मैं तो केवल इसका गर्व दूर करने को आया हूँ। मैंने इसके चार हाथ छोड़ दिए हैं। इनसे वह राज-काज करे। पृथ्वी का बोझ हल्का करने हेतु मैंने इसके सैनिकों का वध किया है। मैं वाण को अभय देता हूँ।''

राजा वाण ने कृतज्ञता पूर्ण हृदय से श्रीकृष्ण को प्रणाम किया। अब उषा-अनिरुद्ध के विवाह में कोई बाधा नहीं रही। राजा वाण ने अनिरुद्ध के हाथों में अपनी पुत्री उषा को सौंप दिया। श्रीकृष्ण सोने के रथ पर सवार होकर द्वारका लौट गए। वे अपने पौत्र और उसकी नववधू – अनिरुद्ध और उषा को भी अपने साथ ले गये।

❖ **(क्रमशः)** ❖

१. न तेऽस्ति स्वपर भ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः।
तथापि स्मरतां शश्वत् क्लेशान् हंसि हृदिस्थितः॥ १०/५८/१०

आत्माराम के संस्मरण (५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: अपने जीवन के कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ घटनाएँ प्रकाशित हुई हैं और कुछ नयी – अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ भिन्न रूप में लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। अनुवादक तथा सम्पादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

सीताजी का आसन हुआ

स्वर्गाश्रम में लछमन झूले की ओर फाटक के बाहर एक वैरागी मौनी बाबा रहते थे। वे गाय-बछड़े पालते और साधुओं को एक-एक दिन के अन्तर से मट्ठा दिया करते थे। उनकी कुटिया के पास ही गंगा के किनारे एक विशाल वटवृक्ष था। निकट ही लछमन-झूला भी था। उन दिनों वहाँ घना जंगल था – अधिकांश धूप के वृक्ष थे।

संन्यासी ने एक दिन देखा कि उस वटवृक्ष के नीचे एक सुन्दर विशाल तिकोना पत्थर है, जो करीब ढाई फीट ऊँचा है। खड़ा होकर सोच रहा था कि यह तो बड़ा ही सुन्दर और शान्त स्थान है। इसके ऊपर बैठकर अच्छी तरह ध्यान किया जा सकता है। लगता है कोई तांत्रिक साधक उसे लाया होगा।

मलयाली ब्रह्मचारी गिरिधारी उधर घूमने गये थे। संन्यासी को देखकर उधर ही चले आये और बोले – "यहाँ क्या देख रहे हैं? इधर चारों ओर शौच कर रखा है, चलिये, चलिये।" संन्यासी ने कहा – "देख रहा हूँ कि यह पत्थर ! ध्यान करने के लिये यह कितना सुन्दर आसन हो सकता है ! इस स्थान की सफाई कर देने से बड़ा अच्छा होगा।" वे बोले – "यही चाहते हैं न ! मैं अभी मौनीजी के पास से कटारी लाकर झाड़ी-जंगल सब साफ कर देता हूँ। उसके बाद मल आदि को झाड़ू लगाकर गंगाजल से धो देने से ही हो जायेगा।"

उन्होंने जो कहा, वही करने में लग गये। इसमें मौनीजी ने भी सहायता की। वहाँ झाड़ू लगाकर मल को एक टूटी हुई टोकरी में उठाकर दूर के एक गड्ढे में फेंक दिया गया। इसके बाद एक बाल्टी में गंगाजल तथा गोबर घोलकर उससे उस पूरे स्थान को धो दिया गया। फिर बहुत-सा गोबर लेकर उसे लीपा गया। खूब स्वच्छ हो जाने के बाद गिरिधारी को भी वह जगह बहुत पसन्द आयी।

उसके बाद वे और संन्यासी जाकर उसके ऊपर बैठकर ध्यान करते। कुछ दिन तो ठीक चला। फिर बद्रीनारायण के यात्रियों की टोलियाँ आनी शुरू हो गयीं। एक दिन गिरिधारी ने आकर बताया – "उस आसन पर कब्जा हो गया है। रामानन्दी वैष्णवों की एक टोली ने आकर वहाँ धूनी जलाकर अपना अड्डा बना लिया है और पत्थर के आसन पर तेलयुक्त लाल सिन्दूर लगा दिया है।"

संन्यासी उनके साथ देखने गया। गिरिधारी के वस्त्र सफेद थे, संन्यासी ने उससे कहा – "जरा पूछो तो, उस पत्थर पर सिन्दूर क्यों लगाया है !"

पूछने पर उत्तर मिला – "क्यों? जानता नहीं है ! यह सीताजी का आसन है। जब राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न यहाँ आये थे, तप किये थे, माताजी भी इधर – उस आसन पर बैठकर तप की थीं !"

बस, तब से वह पत्थर हो गया – सीताजी का आसन और बाद में उसके ऊपर मन्दिर भी बना। इसी को कहते हैं Priest-craft – धर्म के नाम पर व्यवसाय।

हनुमानजी बाकी क्यों रहते

स्वर्गाश्रम के भीतर मध्य भाग की कुटिया में संन्यासी तथा गिरिधारी निवास करते थे। सर्दी का मौसम होने के कारण, बिल्कुल गंगा के ऊपर ही, कुटिया से ५-६ सौ हाथ दूर, गंगा की किनारे की बालुका-राशि के अन्त में एक सुन्दर पत्थर था। दोनों जन वहाँ जाकर धूप सेवन करते और उपनिषदों का अध्ययन करते। किनारे की ओर पत्थर काफी ऊँचा दीवार के सरीखा था, इसीलिये किनारे से कोई देख नहीं पाता था कि वहाँ कौन है। गंगा की ओर से उसका घोड़े के नाल जैसा आकार था और उसमें सुन्दर तथा स्वच्छ बालू भरा हुआ था। उसके ठीक नीचे से होकर ही स्वच्छ ब्रह्मवारि गंगा का प्रवाह था। हृदय को अत्यन्त आकृष्ट करनेवाला स्थल था। उसी बालू के ऊपर बैठकर या अर्ध-शायित

अवस्था में धूप-सेवन तथा उपनिषद्-चर्चा चला करती थी। बड़े आनन्दपूर्वक दिन बीत रहे थे।

एक दिन सत्र का एक रसोइया घूमते-घूमते वहाँ आ पहुँचा। बोला – "वाह, आप लोग तो अच्छा आनन्द ले रहे हैं। यह तो बड़ा सुन्दर पत्थर है। इस ओर तो थोड़ा समतल चट्टान है, दीवार के जैसा उठा है – इस पर हनुमानजी का बड़ा सुन्दर चित्र बन सकता है।" उसके चले जाने पर संन्यासी ने कहा – "भाई, यह स्थान भी गया। वह नेपाली रसोइया हनुमानजी का भक्त है; वह जहाँ-तहाँ उनका चित्र बनाता है और धूप-दीप जलाता है। यह चट्टान की दीवार उसकी नजर में पड़ी है, अब यह नहीं बचेगा।"

वह गुरुवार का दिन था। शनिवार के दिन रात के नौ-साढ़े नौ बजे वह नेपाली हनुमानजी का प्रसाद लेकर कुटिया में हाजिर हुआ – "महात्माजी प्रसाद लीजिये।" वहाँ पर उसने हनुमानजी का विराट् चित्र बना दिया था और पूजा-भोग आदि चढ़ाने के बाद प्रसाद देने आया था। गिरिधारी बोले – "आपने ठीक ही पकड़ा था। परन्तु इतना बहुत है। अब और कुछ शायद वह नहीं करेगा।"

इसके बाद दो सप्ताह भी नहीं बीते। मुम्बई के एक सेठ जी ने भण्डारा दिया। साधुओं को सुबह-सुबह आने के लिये बोल गये थे। जाने पर वहाँ प्रत्येक के हाथ में एक-एक पत्रक दिया, जिसमें लिखा था – "यह मणि पर्वत महा पवित्र तीर्थ है। यहाँ राम-लक्ष्मण ने ब्रह्महत्या के पाप का प्रायश्चित्त करने हेतु तपस्या की थी। हनुमानजी ने भी स्वर्गाश्रम में गंगाजी के भीतर एक शिला पर बैठकर घोर तपस्या की थी। अमुक सेठजी परम भक्त हैं। वे उस शिला के ऊपर एक भव्य मन्दिर बनवाने हेतु चालीस हजार रुपये देंगे।"

उसे पढ़कर संन्यासी तथा गिरिधारी ने एक दूसरे की ओर देखा – "इसका काण्ड तो देखो! वर्षाकाल में गंगा प्रबल वेग के साथ उस शिला के ऊपर से होकर प्रवाहित होती हैं। वहाँ जाने के लिये कोई उपाय नहीं रहता। उस प्रवाह के तीव्र वेग के सामने कुछ भी नहीं टिकता। पाँच मिनट में वे चालीस हजार रुपये पानी में चले जायेंगे। सेठजी को यह समझाना उचित होगा, परन्तु गिरिधारी उनसे कहने को तैयार नहीं हुए, क्योंकि वे काफी काल से स्वर्गाश्रम के महन्त के कृपाभाजन बने हुए हैं। संन्यासी ने निश्चय किया कि बोलेगा, और नहीं तो स्वर्गाश्रम छोड़ देगा। यह भी Priest-craft – धर्म के नाम पर व्यवसाय का एक उदाहरण था।

सेठजी सभी साधुओं को नमस्कार कर रहे थे। साथ में छोटे महन्त भी थे। संन्यासी के पास उनके आते ही, उसने पूछा – "जिस स्थान पर मन्दिर बनाने के लिये आप रुपये दे रहे हैं, उस शिला-खण्ड को आपने स्वयं देखा है क्या?"

सेठजी – "नहीं।"

– "क्या उसे अपनी आँखों से देखना उचित नहीं होगा?"

सेठजी – "जी, हाँ।"

– "तो फिर साधुओं का भोजन समाप्त हो जाने के बाद हमारे साथ चलिये और भलीभाँति देख लीजिये।"

भण्डारा समाप्त हो जाने के बाद सेठजी और महन्त के सभी लोग संन्यासी के साथ चल पड़े। शिलाखण्ड दिखाते हुए वह बोला – "पत्थर तट से ५-६ सौ हाथ दूर खाल में स्थित है और वर्षा के समय जब गंगाजी रुद्र रूप धारण करती हैं, तो उनका प्रवाह शिला के ऊपर से होकर भयंकर वेग के साथ दौड़ता है। तब गंगाजी उस तट तक पहुँचकर प्रलय जैसा दृश्य प्रकट करती हैं। किसी में ताकत नहीं कि उस समय यहाँ तक आ सके। गंगाजी पाँच मिनट में ही उस मन्दिर को ले जायेंगी। चालीस हजार ही क्यों, चार लाख लगाकर भी वहाँ मन्दिर बनवाना मुश्किल होगा। किसी इंजीनियर से सलाह लेकर देखिये कि वे क्या कहते हैं!"

छोटे महन्त बोले – "क्यों! किनारे से यहाँ तक एक पुल बनवा दिया जाय और इस पत्थर के चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी जाय, जिनसे धक्का खाकर गंगाजी का जल किनारे हो जाय, तो कैसा रहेगा?"

संन्यासी – "सेठजी, आप बुद्धिमान व्यक्ति हैं, व्यावहारिक आदमी हैं। थोड़ा सोच-विचार कर यहाँ मन्दिर बनवाइयेगा। उसके बाद भी यदि आपका पैसा जाय, तो हमारा क्या?"

सेठजी सब सुनकर गम्भीर हो गये और विचार करते हुए ही भोजन आदि करते रहे। भोजन के बाद वे पुन: संन्यासी के पास आकर बोले – "आप जो कह रहे हैं, सो तो ठीक है, परन्तु मैंने तो इस पवित्र धाम में गंगाजी का पानी हाथ में लेकर संकल्प कर लिया है। अब मैं क्या करूँ?"

संन्यासी – "उसी पत्थर की सीध में गंगाजी के इस तट पर इन कुटियों के पास मन्दिर बनवा देने से आपके संकल्प की रक्षा हो जायेगी। आपने स्थान देखे बिना ही संकल्प लिया, यह भूल हुई है। अब फिर कभी इस प्रकार लोगों की बात सुनकर, बिना-देखे बिना-सोचे संकल्प मत लीजियेगा।"

सेठजी संन्यासी को विनम्र अभिवादन करने के बाद विशेष कृतज्ञता जताते हुए चले गये। बाद में गंगाजी के किनारे एक छोटा-सा मन्दिर बना। संन्यासी इस घटना के अगले दिन ही ऋषीकेश चला गया था।

हिमालय-भ्रमण – टिहरी (१९१९)

संन्यासी टिहरी में जंगल के मार्ग से चला जा रहा था। रास्ते में कोई गाँव न मिलने से एक रात बड़े कष्टपूर्वक जंगल में ही बिताया है। जूते टूट चुके थे। नंगे पाँव कंकड़ों

के ऊपर चलने के कारण पाँव रबर-ट्यूब के समान फूल गये थे। दोनों पाँवों की एक ही जैसी हालत थी। इसीलिये कुष्ठ-रोगियों की भाँति उन्हें कपड़े से लपेटकर, ठण्डे जल से भिगा कर, लाठी का सहारा लेते हुए किसी प्रकार बड़े कष्टपूर्वक रास्ता चल रहा था।

करीब दोपहर हो गया था। देखा – नदी के किनारे एक पहाड़ी किसान अपनी पत्नी के साथ बैलों की सहायता से धान की दँवरी कर रहा था। संन्यासी को देखते ही उसने बड़े आग्रह के साथ बुलाया और भिक्षा का समय हो गया है, कहकर बैठने को कहा। उसके बाद एक ८-१० साल के लड़के से बोला – "जा, घर से आटा ले आ।" और संन्यासी से बोला – "गाँव के घर से आटा आने पर रोटी बनेगी, यहाँ खतम हो गया है।"

संन्यासी – तुम लोगों का गाँव कितनी दूर है?

उत्तर – वह जो दिख रहा है, पहाड़ के ऊपर। यही कोई तीन मील होगा।

संन्यासी – क्या वह टिहरी के मार्ग में पड़ता है?

उत्तर – नहीं, टिहरी के लिये इस नदी के किनारे-किनारे जाते हुए, नदी के किनारे की पगडण्डी समाप्त हो जाने के बाद एक खड़ी चढ़ाई मिलेगी। उस चढ़ाई को पार करने के बाद एक गाँव है। वहाँ से टिहरी ज्यादा दूर नहीं है।

संन्यासी ने सोचा – यह बालक यदि आना-जाना मिलाकर छह मील रास्ता चलते समय यदि बीच में ही कहीं खेल में मस्त हो जाये, तो सम्भव है कि वह शाम या रात के समय आकर पहुँचे। इससे अच्छा तो यही होगा कि टिहरी का मार्ग पकड़कर आगे बढ़ा जाय।

उस पहाड़ी को धन्यवाद देकर चलना शुरू किया। जैसा कि उसने कहा था, नदी के किनारे-किनारे की पगडण्डी समाप्त होने के बाद चढ़ाई थी – एकदम खड़ी चढ़ाई। पहाड़ी ने नदी से कमण्डलु में पानी ले जाने को कहा था, क्योंकि चढ़ाई पूरी हो जाने के बाद भी पानी दूर ही मिलेगा। पेट में अन्न नहीं था और मध्याह्न सूर्य के ताप ने संन्यासी को परेशान कर दिया था। कमण्डलु का पानी समाप्त हो गया। प्यास से प्राण मुख तक निकल आये थे, पाँव चलने से इनकार कर रहे थे। किसी प्रकार खींच-खींचकर चढ़ाई पूरी करने के बाद देखा कि एक गाँव है। बड़ी आशा के साथ गाँव में जाकर देखा – **का कस्य परिवेदना** – बड़ी विचित्र हालत थी। पूरा गाँव सूना पड़ा था। सभी घरों में जंजीरें लगी हुई थीं। घरों में कोई पशु और गलियों में कुत्ते तक न थे। बात क्या है? इसके बाद बड़े प्रयास से गाँव के चारों ओर घूम-घूमकर देखा, पर जल का कोई भी चिह्न दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अब क्या किया जाय? शरीर तो अब चलने से इनकार कर रहा था। प्यास के कारण प्राण निकलने को आतुर थे। ऐसी अवस्था में संन्यासी का सिर भी घूम रहा था। सोच रहा था – "शायद श्री भगवान की यही इच्छा है कि हिमालय के इस निर्जन प्रदेश में, इस अज्ञात स्थान में देहपात – मृत्यु हो। उन्हीं की इच्छा पूर्ण हो!" यही मन में सोचकर गाँव के बाहर स्थित एक वट वृक्ष के नीचे कम्बल बिछाकर लेट गया; और मृत्यु के लिये प्रस्तुत होकर ईश्वर का स्मरण करने लगा! बीच-बीच में उसके मन में यही एक बात आ रही है – यदि कहीं से थोड़ा-सा भी पानी मिल जाता!

थोड़ी देर इसी प्रकार मृत्यु की प्रतीक्षा में लेटा हुआ था। तभी पास की एक खाई की ओर से आदमी के गले की आवाज सुनाई दी। वह खाई सीधे नीचे नदी तक चली गयी थी। उसके बाद फिर पहाड़ था। कुल मिलाकर दो-तीन मील की बात थी।

संन्यासी अन्तिम चेष्टा करने के लिये उठा कि शायद किसी प्रकार यदि थोड़ा-सा पानी मिल जाय। परन्तु उतनी सपाट भयंकर खाई पर खड़े होकर नीचे की ओर देखना उसके लिये सम्भव नहीं हो सका। उसने लेटे-लेटे ही देखा कि बहुत नीचे ५-७ तल नीचे कुछ लोग भोजन पका रहे हैं और एक महिला तथा दो-एक बालक घूम रहे हैं।

पहले तो उसने आवाज दी, परन्तु गला सूख जाने के कारण ज्यादा ध्वनि ही नहीं निकली। उसके बाद उसने कमण्डलु हिला-हिलाकर उनकी दृष्टि आकर्षित करने का प्रयास किया, परन्तु उसमें भी सफलता नहीं मिली। आखिरकार कपड़े का एक टुकड़ा लेकर उसे हिलाने लगा। तब एक लड़के ने उसे देखकर सबको दिखाया। वे लोग नीचे उतर कर अपने पास आने को कहने लगे, परन्तु संन्यासी के शरीर में शक्ति न थी और उसे उधर जाने का रास्ता भी नहीं दिखाई दे रहा था। उसके बाद महिला ने अपने पति को भेजा। वह वृक्ष की जड़ें, पत्थर के कोने आदि पकड़ते हुए ऊपर आ गया और बोला – "हमारे घर चलिये।" संन्यासी ने पानी माँगा। उसने कहा – "पानी भी है और खाना भी, चलिये।" परन्तु रास्ता पूछने पर वह बोला – 'वह तो एक मील का चक्कर है, लेकिन मैं जैसे आया, वैसे ही आपको भी पकड़ कर ले जाऊँगा, डरने की कोई बात नहीं।"

संन्यासी – परन्तु यदि गिरोगे, तो दोनों ही मर जायेंगे।

उत्तर – नहीं, कुछ नहीं होगा, ठीक पकड़कर ले जाऊँगा।

आखिरकार संन्यासी राजी हुआ और बड़ी सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे उसकी सहायता से नीचे उतर गया।

मकान छोटा-सा था। नीचे और ऊपर एक-एक कमरा था। मकान नया था। गृहिणी दौड़ी हुई आयी और ले जाकर एक बेंच-जैसे तख्त के ऊपर बैठा दिया। और पाँव की हालत देखकर उसकी आँखों में जल आ गया। बोली –

"यह आपको क्या हुआ? अहा, आपको कितना कष्ट हुआ है ! जल्दी से थोड़ा-सा पानी गरम करो, धोने से थोड़ा आराम होगा। भोजन में कितनी देरी है? सन्त भूखे हैं, जल्दी करो।" और बोली – "आज गृहप्रवेश कर रहे हैं। यहाँ हम लोग रहते नहीं हैं। यह चौमासा ग्राम है। वर्षा में जब जल मिलने लगता है, तब सभी आ जाते हैं। जमीन अच्छी है, इसीलिये फसल अच्छी होती है। आज शुभ दिन है, इसलिये पाँच ब्राह्मणों को खिला रही हूँ। उनसे कहा था कि टिहरी से किसी संन्यासी-सन्त को निमंत्रण करके ले आयें। वे नहीं गये, इसीलिये भगवान ने मेरी प्रार्थना सुन ली। वे आपको ले आये। पाँच ब्राह्मण और एक साधु हुए। उनकी दया से मेरी इच्छा पूरी हुई।" उसके मुख-मण्डल से प्रसन्नता फूट उठी।

उसके बाद उसने गरम पानी से पाँव धोने के बाद गरम तेल लगा दिया। फिर थोड़े-से सूखे हुए नारियल के टुकड़े के साथ पीने का पानी दिया और बोली – "भोजन तैयार होते ही भगवान को भोग देकर आपको खिलाऊँगी।" मानो कितने दिनों का परिचय हो ! मानो परम आत्मीय हो ! – "अहा, यहाँ आने में आपको कितना कष्ट हुआ ! जूते नहीं पहनते क्या?"

उसके आदर-यत्न से संन्यासी का हृदय भर गया और नेत्रों में जल आ गया। इन पहाड़ी-माँ की बातें सुनकर वह सोचने लगा – "तुम लोगों के लिये मैं आया हूँ, या फिर मेरे लिये तुम लोग यहाँ आये हो ! और कृतज्ञता से उसके प्राण परिपूर्ण हो उठे। जय भगवान !

हिमालय से वृन्दावन की ओर

संन्यासी वृन्दावन जायेगा। पैसे नहीं हैं, इसलिये पैदल ही जायेगा। कनखल (हरिद्वार) से वृन्दावन खूब आकृष्ट कर रहा है। एक दिन सुबह रवाना हुआ। जीवन-दा सेवाश्रम के पुराने कर्मी थे। नहर (कैनाल) के किनारे-किनारे बहुत दूर तक आये। वे भी इसी प्रकार पैदल तीर्थाटन करना चाहते हैं, परन्तु शरीर दुर्बल है, सर्वदा कोई-न-कोई कष्ट लगा ही रहता है, इसीलिये साहस नहीं करते।

दोपहर में बारह बजे एक गाँव – काफी सम्पन्न गाँव आया। फीडर कैनाल से पानी मिलता है, इसलिये खेती-बाड़ी बहुत अच्छी होती है। गाँव के अन्दर गया। भिक्षार्थी के रूप में पहले ही घर में – 'नारायण हरि' – कहते ही थोड़ा-सा आटा, नमक तथा मिर्च लाकर कहा – "रोटी तो शाम को होगी, इसीलिये यह कच्चा सीधा दिया है !" – "अच्छी बात है।" यथालब्ध वस्तु को लेकर नहर के एक किनारे गया और साथ में पीतल की जो छोटी-सी बाल्टी थी, (जो साधु लोग दाल के लिये रखते हैं), उसी में आटा घोलकर, उसमें थोड़ा नमक मिलाकर और मिर्च डालने के बाद उसी को गले से नीचे उतार कर चल दिया।

शाम को रुड़की पहुँचा। बाजार में जाकर धर्मशाला के बारे में पूछने पर दुकानदार ने बता दिया और बाजार से थोड़ी पूरी-तरकारी खरीद दी। उसी को खाकर रात बीती। अगले दिन नहर के किनारे-किनारे चलना शुरू किया। दोनों ओर बहुत-से आम के और बीच-बीच में जामुन के पेड़ लगे हुए हैं। पके हुए आम रास्ते पर पड़े हुए थे, संन्यासी उन्हीं को उठाकर चूसते हुए चल रहा था। करीब ११ बजे एक गाँव में पहुँचा। गाँव नहर के किनारे ही स्थित था। ठाकुर-दालान के समान एक मकान देखकर वहाँ जाने पर बड़ा सुन्दर देव-दर्शन हुआ। एक युवक ने बाहर आकर स्वागत करके बैठाया और एक व्यक्ति को भोजन लाने के लिये घर के भीतर भेजा। बात-बात में वे बोले – गाँव में एकमात्र वे ही मैट्रिक पास हैं। वे लोग गाँव के जमींदार हैं और बच्चों को अक्षर-ज्ञान देने के लिये उन्होंने गाँव में प्राथमिक विद्यालय बनवाया है, तो भी लड़के पढ़ने के लिये नहीं आते – घूमते-खेलते रहते हैं और मैदान में जाकर गायें चराते हैं। किस उपाय से उन्हें पढ़ने-लिखने में लगाया जाय?

संन्यासी – "यदि वे अपने माँ-बाप की वैसी सहायता न करें, तो उन लोगों को असुविधा होगी, इसलिये शाम को उनके चरागाह से लौटने के बाद दो या तीन घण्टे पढ़ाने की व्यवस्था करने पर सम्भव है कि उनके माँ-बाप ही उन्हें बल-पूर्वक पढ़ने भेजें। संध्या होने के पहले ही तो सब खाते हैं, इसीलिये लगता है कि उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। आप स्वयं नहीं, बल्कि शिक्षक को भेजकर इस विषय में बच्चों के माता-पिता से बात कराइये। उन लोगों को कोई आपत्ति होगी, तो वे लोग उसे बतायेंगे। आप जमींदार हैं, इसलिये वे आपके सामने बोलने में संकोच करेंगे।"

युक्ति उन्हें अच्छी लगी। उनके उस विद्यादान की व्यवस्था पर संन्यासी ने आनन्द व्यक्त किया। उनका भी उत्साह-वर्धन हुआ। पढ़ाई-लिखाई चालू रखना अच्छा है, इसीलिये घर में एक पुस्तकालय बनाने को कहा। एक अच्छी पुस्तक खरीदकर उसका पढ़ना हो जाने पर एक और पुस्तक खरीदना। इसी प्रकार धीरे-धीरे आलमारी भरकर एक ग्रन्थालय बन जायेगा। इस युक्ति से वे बड़े खुश हुए और वहीं रात्रिवास करने को कहा। रात में बहुत-सी बातें हुईं – स्वामीजी की बातें उन्हें बहुत अच्छी लगीं।

❖ (क्रमशः) ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (२९)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी ने अपनी जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं, जिनका हिन्दी अनुवाद वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने किया है। – सं.)

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासन विश्वसिति श्रद्धते, स भक्तिमान् भवति, सः प्रेष्ठं लभते सः प्रेष्ठं लभते ।।८४।।

अन्वयार्थ – **यः** – जो, **इदम्** – इस, **नारद प्रोक्तम्** – नारद-कथित, **शिवानुशासनम्** – मंगलमय शिक्षा में, **विश्वसिति** – विश्वास करता है, **श्रद्धते** – श्रद्धा रखता है, **सः** – वह, **भक्तिमान्** – भक्तियुक्त, **भवति** – होता है, **सः** – वह, **प्रेष्ठम्** – परम प्रिय (अभीष्ट), **लभते** - प्राप्त करता है।

अर्थ – जो नारद-कथित इन शुभ शिक्षाओं में विश्वास करता है और श्रद्धापूर्वक पालन करता है, वह भक्तिमान होता है और ईश्वर रूपी अपने श्रेष्ठ अभीष्ट को प्राप्त करता है।

कुछ पूर्ववर्ती सूत्रों के समान ही, नारद अपने विचार पर जोर देने और चर्चा का उपसंहार करने के लिये सूत्र के अन्तिम शब्दों को दुहराते हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा गया कि जो भी नारद के इन शुभ कथनों में विश्वास करता है और इनका श्रद्धापूर्वक पालन करता है, वह भक्तिमान होता है और जीवन के नि:श्रेयस और सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करता है।

इन सूत्रों द्वारा नारद कोई महान् विद्वत्ता दिखाने के इच्छुक नहीं हैं। भक्तिसूत्रों की शिक्षाएँ अति सरल तथा बोधगम्य हैं और इनका सहज ही पालन भी किया जा सकता है। भक्तियोग परम लक्ष्य (ईश्वर) को प्राप्त करने का सर्वाधिक लोकप्रिय मार्ग है, इसलिये सर्वाधिक लोकप्रिय मार्ग है, क्योंकि इसमें अधिक विद्वत्ता या अधिक तपस्या की भी कोई पूर्वशर्त नहीं है। भक्तियोग के आचार्यगण अधिक तपस्या की सलाह नहीं देते। विद्वत्ता भी कभी-कभी व्यक्ति के मन में यह गर्व उत्पन्न कर देती है कि वह महान् विद्वान है। उसके विपरीत भक्तियोग के आचार्य अत्यन्त विनम्रता दिखाते हैं। यद्यपि अनेक महान् विद्वानों ने भक्तियोग का सविस्तार वर्णन किया है, तो भी भक्तियोग में विद्वत्ता कोई महान् गुण नहीं है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि एक बालक यह नहीं जान सकता कि उसके पिता में कितनी महानता है, तो भी वह अपने पिता से प्रेम करता है और पिता अपने पुत्र से प्रेम करता है। कर्मकाण्डों का सावधानीपूर्वक अनुष्ठान भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि शिशु 'पिता' शब्द का स्पष्ट उच्चारण करना नहीं जानता ! वह केवल कुछ बोलता है और पिता समझ लेते हैं कि शिशु उन्हें ही बुला रहा है।

अत: शास्त्रों में निर्दिष्ट मंत्रों के संक्षिप्त उच्चारण वाली कर्मकाण्डीय पद्धति का अनुसरण करना आवश्यक नहीं है। यहाँ ईश्वर के लिये सरल व्याकुलता ही जरूरी है। इस व्याकुलता के साथ किसी प्रकार का कर्मकाण्ड नहीं भी हो सकता और कोई भी शास्त्र-विधान-युक्त साधना बिल्कुल आवश्यक नहीं है। श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन में यही दिखाया है। जब वे माँ जगदम्बा के दर्शन के लिये व्याकुल थे, तो उन्होंने ऐसी किसी विशिष्ट प्रक्रिया का विचार नहीं किया था, जिसके माध्यम से वह व्याकुल पुकार ईश्वर तक पहुँचती। वे केवल व्याकुल हुए थे। उनका हृदय जगन्माता के दर्शन के लिये व्यथित था। इससे समझा जा सकता है कि भक्तियोग में कर्मकाण्डों के सचेष्ट अनुष्ठान की कोई आवश्यकता नहीं है। भक्त शास्त्रों का जानकर हो सकता है या नहीं भी हो सकता है। यदि वह विधिवत्-पूजा के जरूरी कर्मकाण्डों का जानकार है, तो कर्मकाण्डों को करता है। पर ईश्वर-प्राप्ति के लिये वे अनिवार्य नहीं हैं। मन में तीव्र व्याकुलता जाग्रत होने के पहले श्रीरामकृष्ण जो कर्मकाण्ड जानते थे, उन्हें वे शास्त्र-सम्मत ढंग से कर रहे थे। पर जब उनका मन ईश्वर प्रेमोन्मत्त हो गया, तो वे उस कर्मकाण्ड-पद्धति को ही भूल गये। जब वे माँ काली की उपासना कर रहे थे, तो उसमें बिल्कुल कोई नियम नहीं था। यह तो बस माँ के सम्मुख बालक का आचरण था। इससे श्रीरामकृष्ण ने दिखा दिया कि कर्मकाण्ड अनिवार्य नहीं है। यद्यपि श्रीरामकृष्ण ने शाक्त पंथ में विधिवत् दीक्षा प्राप्त की थी, किन्तु वह एक तरह की औपचारिकता दीक्षा ही थी, जिसे उन्होंने कभी विशेष महत्त्व नहीं दिया था। इसका अर्थ है कि ऐसी कर्मकाण्डीय पद्धति के बिना भी ईश्वर केवल प्रेम से ही प्राप्त हो सकते हैं। भक्तियोग की यही विशिष्टता है।

फिर बौद्धिक पहलू के बारे में बात यह है कि भक्तियोग में विद्वत्ता अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। नारद स्वयं महान् विद्वान् थे, किन्तु इन सूत्रों में उन्होंने अपनी विद्वत्ता का कभी प्रदर्शन नहीं किया। हम देख चुके हैं कि उनके कथनों के समर्थन में शास्त्रीय उद्धरणों का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। सूत्रों में कहीं शास्त्रीय उद्धरणों का उल्लेख नहीं मिलता। इसका अर्थ यह नहीं कि नारद अपने समर्थन में शास्त्रीय उद्धरण देने में सक्षम नहीं हैं। पर उन्होंने इसे कभी जरूरी नहीं समझा। ऐसा उन्होंने विशेष रूप से यह दिखाने के लिये

किया कि मनुष्य को विद्वान् होने की जरा भी आवश्यकता नहीं है, फिर भी वह भक्तिमार्ग द्वारा ईश्वर तक पहुँचने और उनकी अनुभूति करने में सक्षम है और ईश्वर के लिये होनेवाली व्याकुलता में विद्वत्ता की कोई भूमिका नहीं होती। श्रीरामकृष्ण ने भी इसी भाव को प्रदर्शित किया है।

अब सामाजिक स्थिति के बारे में देखें। भक्त को उच्च जाति का या समाज में प्रतिष्ठित होने की जरूरत नहीं है। नारद दासी-पुत्र थे, जिनके पूर्वजों के बारे में कोई जानकारी नहीं है। यद्यपि समय-समय पर नारद का उल्लेख ब्रह्मकुमार या ब्रह्मा के पुत्र के रूप में किया गया है, तो भी वह एक सहज कथन ही है। कथा में नारद के पूर्व-वृत्त का कोई उल्लेख नहीं है। उनके पिता के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है। केवल इतना ही कहा गया है कि उनकी माँ एक दासी थी और नारद के बाल्यकाल में ही त्याग भावना जाग्रत हो गई थी, फिर उन्होंने संसार त्याग किया और आदर्श को साकार करने के लिये या ईश्वर-दर्शन पाने के लिये कहीं दूर चले गये। उन्होंने ध्यान में बैठकर ईश्वर से व्याकुल प्रार्थना की और ईश्वर ने उन्हें दर्शन दिया। इस प्रकार उनके जीवन में यह दर्शाया गया है कि ईश्वर-दर्शन के लिये उच्च-कुल, महान् वंश-परम्परा, महान् ऋषियों और सन्तों के रूप में जन्म लेना जरूरी नहीं है। व्यक्ति समाज के किसी भी तबके का हो, वह बिना किसी संकोच के भक्तियोग का अनुसरण कर सकता है और यदि वह अपनी साधना में निष्ठावान और व्याकुल है, तो ईश्वरानुभूति निश्चित रूप से प्राप्त होगी। पर भक्ति-पन्थ के अनुयायियों के हृदय में विश्वास पैदा करने के लिये नारद कहते हैं कि भक्तियोग के सन्दर्भ में जो भी कहा गया है, उसकी शिक्षा महान् ऋषियों ने दी है, जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। नारद कहते हैं कि ये सब निर्देश शिव द्वारा दिये गये हैं, नारद तो केवल इसके वक्ता मात्र हैं।

जो इन शिक्षाओं में विश्वास करके इनका पालन करता है, उसे क्या मिलता है? उसे भक्ति मिलती है। अन्ततः वह अपने जीवन में उस परम तत्त्व – परम निःश्रेयस् की अनुभूति करता है। अध्याय का अन्त और पुस्तक की समाप्ति की सूचना देने के लिये इसे दो बार कहा गया है। या इसका यह अर्थ हो सकता है कि वह भक्त का अभीष्ट उस परम सत्य को निश्चित ही प्राप्त कर लेता है। यहाँ दो बातें हैं, जो इसमें विश्वास रखता है और सक्रिय रूप से इसकी साधना करता है, वह उन्हें प्राप्त करता है। केवल ऊपरी तौर पर विश्वास करना ही यथेष्ट नहीं, पूरे जीवन को तदनुसार ढालना होगा। केवल तभी उसके लिये इन शिक्षाओं का कोई मूल्य है। कोई महान् विद्वान बिना भक्त बने ही, भक्ति पर प्रवचन दे सकता है। श्रीरामकृष्ण ने भागवत के एक महान् व्याख्याता की कथा बतायी है। वे एक राजसभा में राजा के सम्मुख प्रवचन देते थे। अन्त में वे राजा से पूछते, "महाराज, क्या आप समझे?" उत्तर में राजा कहते, "पहले स्वयं समझें।"

भागवती पण्डित ऐसे उत्तरों से विस्मित होकर सोचते, "यह क्या? मैंने जीवन भर शास्त्रों का अध्ययन किया और मैं इन शिक्षाओं की सुन्दर व्याख्या करके सन्तुष्ट हूँ, तो भी राजा कहते हैं, 'पहले स्वयं समझें।' क्या मैंने नहीं समझा है? इस प्रकार तीन बार प्रवचन में जब राजा का यही उत्तर रहता, 'पहले स्वयं समझें।' तो पण्डित सोचने लगे, 'बात क्या है?' पण्डित बड़े विद्वान थे और उनमें निष्ठा भी थी। अतः उन्होंने स्वयं ही विश्लेषण करने का प्रयास किया, 'राजा ने ऐसा क्यों कहा कि मैंने स्वयं इसे नहीं समझा है?" तदुपरान्त बहुत सोच-विचार करने के बाद उन्हें शिक्षा का सार समझ में आ गया, "इस शिक्षा का सार है कि व्यक्ति को ईश्वर के लिये सब कुछ त्याग देना चाहिये। क्या मैंने ऐसा किया है? – नहीं। अतः राजा का यह कथन सही है, पहले स्वयं समझें।" फिर पण्डित ने प्रवचन बन्द कर दिया और राजा को सन्देश भिजवा दिया, "हाँ, अब मैं समझ गया हूँ।" और पण्डित ने संसार त्याग कर दिया। यही रहस्य है।

यदि हम इन बातों को समझ लें, तो यह बौद्धिक समझ मात्र नहीं होगी, जो हमारे लिये किसी काम की नहीं होगी। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि गिद्ध आकाश में बहुत ऊँचाई पर उड़ते हैं, पर उनका ध्यान नीचे मरे हुये पशुओं पर रहता है। इसी तरह विद्वान् बहुत ऊँचे आदर्शों पर प्रवचन और शास्त्रों की व्याख्या करते हुये बड़ी ऊँची बातें कहते हैं, पर उनका मन सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है। अतः ऐसी विद्वत्ता से क्या लाभ? श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि ऐसी विद्वत्ता को मैं घास-फूस के समान समझता हूँ। वह विद्वत्ता प्रसिद्धि और धन-सम्पदा तो दे सकती है, पर मोक्ष नहीं दे सकती। अतः यह बिल्कुल व्यर्थ है। भक्तियोग में यह विशेष रूप से प्रासंगिक है। वस्तुतः ईश्वर की खोज करनेवाले साधक के लिये त्याग बड़ा उच्च गुण माना जाता है, पर भक्त के लिये त्याग एक चमत्कार है, क्योंकि उसने संसार को वैसा नहीं समझा है, जैसा विद्वान् समझता है। वह अपने हृदय में यह भाव रखता है कि संसार ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी उसे जरूरत है या जिसकी उसे लालसा है, किन्तु वह तो अपने प्रिय ईश्वर को चाहता है। वह केवल ईश्वर को चाहता है, अतः उसके लिये भगवान के बिना संसार बेकार है, संसार उसे ईश्वर से दूर ले जाता है। कथा आती है कि एक बार सीताजी ने हनुमान की भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें अपना मोतियों का हार दिया। हनुमानजी तो बन्दर ठहरे; वे अपने सहज जातीय गुण के अनुसार वह हार लेकर मोतियों को तोड़कर फेंकने लगे। इसे देखकर किसी ने कहा, 'ये तो बिल्कुल बन्दर के समान ही आचरण कर रहे हैं। ये हार का

मूल्य नहीं जानते। मोती तो अमूल्य हैं, पर वे तो हार को नष्ट करके मोतियों को फेंक रहे हैं। किसी दूसरे ने हनुमानजी से पूछा, "आप इन अमूल्य मोतियों को तोड़कर क्यों फेंक रहे हैं? इनका मूल्य क्या आपको पता नहीं!" हनुमानजी ने उत्तर दिया, "मैं इन्हें यह देखने के लिये तोड़ रहा हूँ कि क्या इनके भीतर राम हैं। मैं इनमें राम को नहीं पा रहा हूँ, अत: मैं इन्हें फेंक दे रहा हूँ।" तब प्रश्नकर्त्ता ने पूछा, "अच्छा, आपका तो यह शरीर है। क्या इसके भीतर राम हैं, जो आप इसे नहीं फेंक रहे हैं?" कथा में आता है कि हनुमान ने अपना हृदय चीर दिया और उसके भीतर राम निवास कर रहे थे। अन्यथा वह शरीर भी फेंक दिया गया होता। भक्त का ऐसा ही भाव होता है। उसके लिये ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मूल्यवान नहीं है, अन्य सभी चीजें निरर्थक हैं। केवल नारद ने ही इन सब बातों की शिक्षा नहीं दी है, अपितु प्रमाण के तौर पर यहाँ भक्ति के अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया गया है।

अन्त में निष्कर्ष-रूप में कहा गया, "जो भी इन शिक्षाओं में श्रद्धा-विश्वास रखता है...।' इसका भी प्राय: वही अर्थ है। श्रद्धा अर्थात् शास्त्रों में विश्वास और विश्वास का अर्थ है – शास्त्रों की मदद के बिना भी सामान्यता हम जो विश्वास रख सकते हैं। अत: जिसमें श्रद्धा-विश्वास है, वह इसकी अनुभूति करेगा। कैसी अनुभूति? वह अपने अभीष्ट – ईश्वर की अनुभूति करेगा। इसका अर्थ ईश्वर नहीं भी हो सकता है; फिर वहाँ ईश्वर की महिमा भी अपेक्षित नहीं है, वे निर्गुण ईश्वर भी हो सकते हैं, बशर्ते कि वे भक्त के अभीष्ट हों और उसके जीवन के परम लक्ष्य हों। भक्त को वही प्राप्त हो जाता है। वह परम लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर फिर प्राप्तव्य क्या बचता है? कुछ नहीं, क्योंकि भक्त की सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। वह स्वयं में शान्त-सन्तुष्ट हो जाता है, उसका हृदय अपने अभीष्ट के प्रति प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है और उससे एकरूप हो जाता है। भक्त के लिये यही उसके प्रेम की पूर्णता है। यह एक सुन्दर व्याख्या का सुन्दर समापन है।

इस विषय को केवल बौद्धिक रूप से समझने के लिये, मात्र जिज्ञासा को शान्त करने के लिये नहीं ग्रहण करना है, बल्कि कुछ ऐसा प्राप्त करने के लिये लेना होगा, जिसका जीवन में सचमुच महत्त्व हो, जो मनुष्य के लिये परम महत्त्व का हो – और वह है ईश्वर से एकात्म हो जाना, ईश्वर तक पहुँचना और उनकी संगति में रहना। भक्तियोग के द्वारा यही तो प्राप्त होता है। भले ही अन्य लोग इसकी प्रशंसा करें या न करें, पर नारद कहते हैं कि भक्त कभी इसकी परवाह नहीं करता। यहाँ तक कि जब संसार के लोगों के समान न होने के कारण उसकी पागल कहकर निन्दा की जाती है – तो भी भक्त उस पर ध्यान नहीं देता। उसने तो अपना सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर लिया है और वह इसकी चिन्ता नहीं करता कि लोग क्या कह रहे हैं। यह भी स्पष्ट रूप से बताया गया है। यह भक्तियोग है। व्यक्ति को इसकी कीमत के रूप में शरीर सहित अपना सर्वस्व दे देना होगा। गोपियों ने अपने को भगवान का सेवक कहा और उसके बदले वे थोड़ा भी कुछ नहीं चाहती थीं। उन्होंने बिना किसी प्रतिदान की इच्छा के, अन्य कुछ प्राप्तव्य माने बिना ही, स्वयं को ईश्वर के चरणों में न्यौछावर कर दिया था। भक्त को भगवान के लिये सर्वस्व अर्पित कर दिया है, फिर उसके लिये अन्य किसी चीज का – यहाँ तक कि अपने सुख का भी कोई महत्त्व नहीं। भक्त सुख नहीं, वह ईश्वर को चाहता है। सुख तो अयाचित रूप से आ जाता है। वह इसी बात से सन्तुष्ट रहता है कि वह अपनी पूरी क्षमता से और ईश्वर के प्रति आन्तरिक समर्पण से ईश्वर की सेवा कर सकता है। इसी को अनन्य भक्ति कहते हैं। हृदय का कोई भी कोना किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति के लिये शेष नहीं रहता। सम्पूर्ण हृदय पर ईश्वर का अधिकार होना चाहिये। इसी को अनन्यता कहते हैं, जिसका केवल एक ही लक्ष्य होता है। यही वह महत्त्वपूर्ण चीज है, जिसे भक्त के जीवन में देखना है। गोपियों का जीवन इसका सटीक दृष्टान्त है। उन्होंने भगवान के लिये सामाजिक प्रतिष्ठा सहित अपना सर्वस्व त्याग दिया। गोपियों के जीवन का सौन्दर्य यही है। श्रीरामकृष्ण ने भक्ति के आदर्श में इसी की प्रशंसा की है। भक्त को अपने पास कुछ भी न रखकर, अपना सर्वस्व ईश्वर को दे देना होगा; अन्य चीजों की कौन कहे, भक्त को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा भी छोड़नी होगी। भक्तियोग का यही सौन्दर्य है। जब व्यक्ति इसे हासिल कर लेता है, तो वह अपने अभीष्ट ईश्वर रूपी लक्ष्य को अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। भक्तियोग की यही परिणति है।

इस प्रकार हमने देखा कि भक्त को विद्वान्, महान्, धर्म-परायण होने या अनेक यज्ञ या धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करने की जरूरत नहीं है। उसे सामान्य अर्थों में समझी जानेवाली पवित्र आचरण-संहिता का पालन करने की भी जरूरत नहीं है। वह स्वयं पवित्र होता है और उसका स्पर्श या उपस्थिति मात्र ही दूसरों को पवित्र कर देती है। उसके स्पर्श मात्र से पापी सन्त बन सकता है। भक्ति की यही महिमा है। भागवत में श्रीकृष्ण कहते हैं, "मैं गोपियों के प्रेम का उचित प्रतिदान कैसे दे सकता हूँ? मैं उनके दिये हुए प्रेम का प्रतिदान नहीं दे सकता।" भक्त ईश्वर के प्रति जैसा भाव रखता है, ईश्वर भी भक्त के प्रति वैसा ही भाव रखते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं – "जब ऋषि और ऐसे भक्तगण चलते हैं, तो मैं उनके पीछे-पीछे जाता हूँ, ताकि उनकी चरणधूलि उड़कर मुझ पर पड़े और मैं पवित्र हो सकूँ।" किसी मनुष्य को अर्पित की जा सकने वाली यह सर्वोच्च भावांजलि है। ❖ **(समाप्त)** ❖

पाप और पुण्य कर्म

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

प्रायः सभी धर्म और दर्शन पाप और पुण्य की विवेचना करते हैं, पर यह विवेचन प्रायः इतना जटिल होता है कि इनसे पाप और पुण्य का स्वरूप स्पष्ट होने के स्थान पर और उलझ जाया करता है। एक ग्रन्थ में पाप और पुण्य की बड़ी सरल परिभाषा दी गई है। वहाँ कहा गया है – **परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।** अर्थात् परोपकार पुण्य है तथा परपीड़न पाप। कुछ अतिवादी लोग परपीड़न का ऐसा मतलब लगाते हैं कि कभी किसी को दुःख ही नहीं देना। इससे कई लोग शंका करते हैं कि चोर, डाकू, हत्यारा, लंपट, व्यभिचारी आदि दुराचारी व्यक्तियों से फिर किस प्रकार व्यवहार किया जाय? उनको दण्ड देना क्या परपीड़न नहीं है? इसका उत्तर यह है कि अन्याय का प्रतिकार और अन्यायी का दमन होना ही चाहिए और यह परपीड़न में न आकर परोपकार में आता है।

कर्मों के तीन प्रकार माने जाते हैं : पहला – सामान्य कर्तव्य कर्म, दूसरा – पुण्य कर्म और तीसरा – पाप कर्म। व्यक्ति सर्वदा समाज से सम्बन्धित होता है। उसके विचारों और कर्मों का प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। जब वह अपने और अपने परिवार के सदस्यों के निर्वाह के लिए उचित तरीकों का सहारा लेते हुए अपनी जीवन-यात्रा तय करता है, तो उसके ये कर्म सामान्य कर्तव्य के अन्तर्गत आते हैं। यदि वह अनुचित तरीकों का सहारा लेता है, तो वह पाप कर्म करता है और समाज को भी अधोगति की ओर ले जाता है। जो कर्म व्यक्ति और समाज की अवनति करते हैं, वे पाप-कर्म की कोटि में आते हैं। दूसरी ओर जिन कर्मों से व्यक्ति और समाज की उन्नति होती है, उन्हें पुण्य-कर्म कहते हैं। भर्तृहरि ने इन तीन प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण अति सुन्दर रूप से किया है। वे नीतिशतक में कहते हैं –

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये॥
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

भर्तृहरि पुण्यकर्मी को सत्पुरुष कहते हैं। सामान्य कर्मी को सामान्य और पापकर्मी को मानव-राक्षस। पापकर्मी की वे एक और कोटि भी बताते हैं, जो मानव-राक्षस से भी गई-बीती है। उसका नामकरण वे नहीं कर पाते। वे कहते हैं – एक तो सत्पुरुष होते हैं, जो अपना स्वार्थ तजकर दूसरों के हित में लगे रहते हैं, दूसरी कोटि सामान्य पुरुषों की है, जो वहीं तक परहित करते हैं, जहाँ तक उनके स्वार्थ में धक्का नहीं लगता, तीसरी कोटि में मानव-राक्षस आते हैं, जो अपना स्वार्थ साधने हेतु दूसरों का गला घोटने में भी नहीं हिचकते, पर अकारण ही दूसरों के हित पर कुठाराघात करनेवाले लोग किस कोटि में रखे जाएँ, मैं नहीं जानता।

वस्तुतः दूसरों का हित करना ही सर्वोच्च पुण्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो परोपकार को सबसे बड़े धर्म के रूप में माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'मानस' में वे कहते हैं – **परहित सरिस धरमु नहीं भाई।** अर्थात् परोपकार के समान महान् धर्म अन्य कोई नहीं है। इसी प्रकार गोस्वामी जी परपीड़न से अधिक जघन्य पाप भी दूसरी नहीं देखते। वे कहते है – **परपीड़ा सम नहिं अधमाई।** वस्तुतः पुण्य जहाँ समाज को संगठित और विकसित करता है, वहाँ पाप समाज में विघटन और विशृंखलता की सृष्टि करता है। हमारे जो आचार एवं कार्य सामाजिक जीवन को सुदृढ़ बनाते हैं तथा विकसित करते हैं, जो शास्त्रानुकूल और मर्यादित हैं, वे ही पुण्य हैं तथा हमारे जिन कर्मों से समाज विघटित होता है, वे ही पाप कहे जाते हैं।
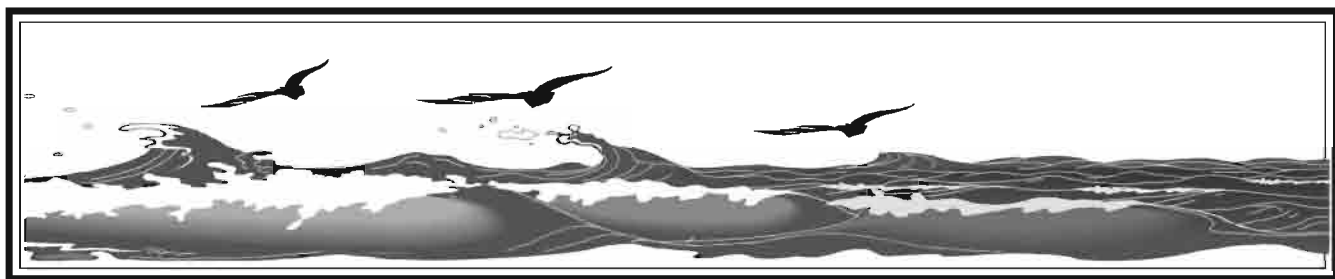
एक स्वस्थ जीवन-दर्शन : मनुष्य की परम आवश्यकता (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रतिवर्ष की भाँति २००६ ई. में भी रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने सन्त गजानन अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव (महा.) के अनुरोध पर विद्यार्थियों के लिये 'व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर कार्यशाला का संचालन किया था। उनके उस महत्वपूर्ण व्याख्यान को हम 'एक स्वस्थ जीवन-दर्शन : मनुष्य की परम आवश्यकता' शीर्षक से प्रकाशित कर रहे हैं। इसका हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के ही ब्रह्मचारी जगदीश और इसका सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

दर्शनशास्त्र किस प्रकार सहायक है?

दो तरह के जगत का अस्तित्व है। हमने देखा कि दर्शन -शास्त्र किसी भी तथ्य को बिना विचार और तर्क के स्वीकार नहीं करता और वस्तु की प्रकृति की परीक्षा करता है। थोड़ा सा चिन्तन यह सूचित करता है कि हम दो प्रकार के संसार से परिचित हैं। एक है बाह्य भौतिक जगत, जिससे हमारा अत्यधिक परिचय है तथा दूसरा है अन्त: मानस-जगत, यद्यपि हम उसे जानते हैं, लेकिन उससे सुपरिचित नहीं हैं।

अब दर्शनशास्त्र हमसे कहता है कि हम इस बात की परीक्षा करें कि इन दो तरह के जगत में कौन-सा अधिक सत्य एवं दीर्घ-स्थायी है?

हमारे पास इन्द्रियाँ हैं, यथा – आँख, कान, नाक, आदि जिनके माध्यम से हम बाह्य भौतिक जगत का अनुभव करते हैं एवं उसका हमें बोध होता है। मनुष्य ने असंख्य ऐसे यन्त्रों का आविष्कार कर लिया है जिनसे मानवी इन्द्रियों की क्षमताएँ अकल्पनीय स्तर तक वर्धित हुई हैं। जब हम बाह्य भौतिक जगत की परीक्षा करते हैं, तब उसकी ठोस सत्यता से आश्वस्त हो जाते हैं। किन्तु बाह्य जगत की परीक्षा करने की प्रक्रिया में हम पाते हैं कि एक यन्त्र हमारे भीतर भी है। यद्यपि भौतिक अर्थों में नहीं किन्तु हमारा अनुभव एवं ज्ञान इस बात को प्रमाणित करते हैं कि बिना इस अदृश्य यंत्र के हमारे लिए बाह्य भौतिक जगत को देखना एवं उसका परीक्षण करना सम्भव न होगा। यह शक्तिशाली यंत्र है — हमारा मन। जीवन में हम सभी ने यह अनुभव किया है कि जिन क्षणों में हमारा मन चंचल होता है, उन क्षणों में हम ठीक तरह से एकाग्रचित्त नहीं हो पाते; हमारी समस्त इन्द्रियों एवं उनके सहायक उपकरणों की उपस्थिति के बाद भी हम बाह्य जगत का ठीक तरह से अनुभव करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि हमारा अन्तस्थ मन:-जगत भी तुलनात्मक रूप से बाह्य भौतिक जगत के जितना ही महत्त्वपूर्ण है। दर्शनशास्त्र हमसे यह आग्रह करता है कि हम अपने इस अन्तर्जगत का अन्वेषण भी उतनी ही गम्भीरता एवं अध्यवसायपूर्वक करें जितना कि बाह्य जगत के अन्वेषण के लिये करते हैं।

ज्यों ही हम अपने अन्तर्जगत के परीक्षण का विचार करते हैं, त्यों ही हमारा सामना एक समस्या से होता है। हम अपने अन्तर्जगत का परीक्षण किस यंत्र से करें? हमारे पास अपने अर्न्तजगत के परीक्षण का मात्र एक ही साधन है और वह है – "आत्मनिरीक्षण"। एकमात्र आत्मनिरीक्षण के द्वारा ही हम अपने अन्तर्जगत की परीक्षा एवं उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

मनोदैहिक समस्या

जब हम बाह्य जगत की परीक्षा करते हैं, तब पाते हैं कि हमारा शरीर स्वयं एक भौतिक वस्तु है, पदार्थ निर्मित है एवं पदार्थों के नियमों से परिचालित होता है। उसका एक निश्चित आकार है। वह कुछ स्थान घेरता है। उसका कुछ वजन है। वह सर्दी एवं गर्मी से प्रभावित होता है, इत्यादि।

जब हम अपने मनोदैहिक स्वभाव का निकट से अवलोकन करते हैं, तब पाते हैं कि शरीर की अवस्थाओं का प्रभाव मन पर भी पड़ता है। असुविधाजनक सर्दी एवं गर्मी हमारे मन को भी विचलित करती है। इन परिस्थितियों में हम विक्षुब्ध एवं दु:खी हो जाते हैं। बहुधा शारीरिक अस्वस्थता हमारे मन को भी अस्वस्थ कर देती है। कुछ अधिक गहन अन्वेषण से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि इसका विलोम भी लगभग उतना ही सत्य है। जब हम मन से अशान्त एवं चिन्तित होते हैं, तब मन्दाग्नि, अनिद्रा आदि रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। इस प्रकार हमारा प्रत्येक दैनन्दिन अनुभव यह दर्शाता है कि शरीर एवं मन परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं।

किन्तु जैसा हमने देखा है कि दर्शनशास्त्र इस तरह के सामान्य स्तर के अनुभवों से ही सन्तुष्ट नहीं होता है। वह इससे आगे बढ़कर इन सामान्य अनुभवों में निहित तत्त्वों के अन्वेषण, विवेचन एवं सत्यापन में प्रवृत्त होता है। ऐसे अनेक महान विचारक एवं दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने शरीर एवं मन की संरचना की परीक्षा की एवं उनमें से कौन अधिक महत्वपूर्ण अथवा प्रमुख है इस तथ्य की जानकारी प्राप्त की। प्रमुख रूप से उनके निष्कर्षों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। उनमें से एक शरीर को प्राथमिकता अथवा प्रधानता देने का पक्षधर है जबकि दूसरा मन की प्राथमिकता अथवा प्रधानता का पक्षधर है। शरीर की प्राथमिकता अथवा प्रधानता के पक्षधर विचारक इस बात की शिक्षा देते हैं कि

शरीर से पृथक् मन अथवा चेतना जैसी कोई वस्तु नहीं है; मन तो शरीर की बाह्य भौतिक जगत की प्रतिक्रिया का परिणाम है। उनके सिद्धान्त को सामान्य रूप से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है – "जिस प्रकार यकृत से पित्त का स्राव होता है, उसी प्रकार मस्तिष्क से विचारों का स्राव होता है।" (जिन पाठकों को इस सिद्धान्त एवं शरीर-मन की समस्याओं में जिज्ञासा हो, वे श्री जी. वाट्स कन्नीहांम लिखित "प्राब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे" नामक पुस्तक के १५, १६, और १७वें अध्यायों का अध्ययन कर सकते हैं। इसके प्रकाशक हैं – जॉर्ज जी. हॉर्पर एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९३६ में पुनर्मुद्रित)

किन्तु यदि हमारे समस्त विचार, उच्च आकांक्षायें एवं उदात्त भावनायें हमारे शारीरिक परिवर्तनों एवं बाह्य भौतिक जगत की प्रतिक्रिया के परिणाम हों, तब तो अपने विचारों को दिशा देने एवं अपने भविष्य को समुन्नत करने के हमारे सभी प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे।

यद्यपि हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि 'मन, शरीर की प्रतिक्रियाओं का परिणाम है' ऐसा सिद्धान्त कितना दुर्बल है; तथापि हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे मानसिक जीवन को दिशा एवं आकार देने में शरीर अवश्य ही एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाया करता है।

मन की सर्वोत्कृष्टता

शताब्दियों पूर्व हिन्दू दार्शनिकों एवं आचार्यों ने मन की सर्वोत्कृष्टता के तथ्य की अनुभूति कर ली थी। उन्होंने यह भी अनुभूति की कि मन का शरीर पर पूर्ण प्रभुत्व होता है। हिन्दू दर्शन के उन महान आचार्यों में से एक, आचार्य शंकर, अपनी 'विवेक चूड़ामणि' नामक विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ में कहते हैं – "स्वप्न में, जब बाह्य जगत से कोई वास्तविक सम्पर्क नहीं होता है, तब मन अनुभवों से स्वत: ही अपना एक संसार रच लेता है। इसी तरह जाग्रत अवस्था में भी कोई भेद नहीं है। अत: यह समस्त दृश्य जगत मन का ही प्रक्षेप है।"[१२]

स्वामी विवेकानन्द अपने राजयोग नामक पुस्तक के द्वितीय सूत्र के भाष्य में हम बाह्य जगत का अनुभव कैसे प्राप्त करते हैं, इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं – "यथार्थ बहिर्जगत् तो संकेत देनेवाला कारण मात्र है, जिससे मानसिक प्रतिक्रिया होती है। एक पुस्तक का रूप, हाथी का रूप या मनुष्य का रूप बाहर कोई अस्तित्व नहीं रखता; हम जो कुछ जानते हैं, वह बाहर के संकेत से होनेवाली हमारी मानसिक प्रतिक्रिया मात्र है।"[१३]

आधुनिक दर्शनशास्त्र एवं मनोविज्ञान की शिक्षा भी मन की सर्वोत्कृष्टता के इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है। हमारे अस्पताल ऐसे व्यक्तियों से भरे हैं, जो शारीरिक रोगों की अपेक्षा मानसिक रोगों से पीड़ित हैं। तथा यह देखा गया है कि जब उन्हें मनोवैज्ञानिक सहायता प्रदान की जाती है, तब उनकी शारीरिक रुग्णता के लक्षण भी समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार मन की सर्वश्रेष्ठता को हम स्पष्ट देख सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शरीर का महत्व कुछ कम आँका जाना चाहिए।

मन एवं शरीर से कुछ अधिक

हमने देखा कि जिन समस्याओं को सुलझाने का दर्शनशास्त्र प्रयास करता है उनमें मनुष्य एक मौलिक समस्या है। शरीर एवं मन की विवेचना, मनुष्य की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं है। किञ्चित् विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य केवल शरीर एवं मन के अतिरिक्त कुछ और भी है। मनुष्य में कोई ऐसा तत्त्व विद्यमान है, जो शरीर एवं मन को यंत्रों की तरह उपयोग करता हुआ स्वयं उनसे अप्रभावित रहता है। इस तथ्य का वर्णन करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं – "मनुष्य शरीर एवं मन मात्र नहीं है। मानव व्यक्तित्व की संरचना में ऐसा कुछ है जो इन दोनों का उपयोग कर लेता है, तथापि इनसे अतीत है। बढ़ती उम्र एवं घटती सामर्थ्य, आत्मा के प्रकाश को मद्धिम कर सकने में सर्वथा असमर्थ है। कोई भी परिवर्तन जो शरीर और यहाँ तक कि मन का भी ह्रास कर सकता हो, आत्मा से असम्बद्ध रहता है तथा यह आत्मा ही मनुष्य का यथार्थ स्वरूप है।"[१४]

पीढ़ी-दर-पीढ़ी भारत के महान आचार्यों एवं दार्शनिकों ने अपने जीवन को इस तथ्य के अन्वेषण हेतु समर्पित किया कि मनुष्य वस्तुत: क्या है? उनके अन्वेषणों के परिणाम अन्तिम एवं प्रामणिक हैं। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मनुष्य के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति के ठोस एवं अचल धरातल पर खड़ा है। हिन्दू शास्त्रों एवं दर्शन की सार संग्रह रूप भगवद्गीता यह घोषणा करती है कि वस्तुत: मनुष्य शरीरिण: – शरीरधारी आत्मा है एवं अनाशिन: – अनश्वर है। शरीर एवं मन के पीछे विद्यमान सत्य, नित्य एवं शाश्वत है तथा हिन्दू दर्शन में उसे 'आत्मा' कहा गया है। यह आत्मा ही शरीर एवं मन का वास्तविक नियंत्रणकर्ता है। वास्तव में शरीर एवं मन जड़ पदार्थ हैं एवं उतने ही निष्क्रिय हैं जितना कि एक पाषाण-खण्ड। इस चेतन आत्मा के कारण ही हमें शरीर-मन की ग्रन्थियों का ज्ञान तथा बोध होता है तथा चेतन आत्मा के शरीर एवं मन के माध्यम से प्रतिबिम्बित होने के कारण वे स्वयं चेतनशील प्रतीत होते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१२. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-१७२; **१३.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-१, पृष्ठ-११६, अष्टम् पुनर्मुद्रण, जुलाई-२००५; **१४.** द ब्रह्म सूत्र – द फिलॉसफी आफ स्पिरिचुअल लाइफ, बाय एस. राधाकृष्णन, सेकण्ड इम्प्रेशन १९७१, पब्लिशर – जार्ज अलेन, अनविन, लन्दन, पेज-१४४

दुष्प्रचार और उसका खण्डन

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुनः खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमशः इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

इस लेखमाला के ३९वें तथा ४३वें लेख में हमने देखा कि ब्राह्मसमाज के एक प्रमुख नेता श्री प्रतापचन्द्र मजुमदार ईसाई मिशनरियों के साथ मिलकर स्वामीजी के विषय में अनेक मनगढ़न्त बातों का दुष्प्रचार कर रहे थे। खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह को इसकी जानकारी मिलने पर उन्होंने स्वामीजी के २८ फरवरी १८९४ के पत्र का, ७ अप्रैल को उत्तर लिखकर अमेरिका में उनके कार्य के प्रति पूर्ण समर्थन व्यक्त किया था। स्वामीजी ने वह पत्र अपने मित्र प्रोफेसर जॉन हेनरी राइट को पठनार्थ भेजा।

परन्तु ईसाई मिशनरी उनके ऊपर विशेष रूप से खफा थे, क्योंकि वे लोग अमेरिका में सर्वत्र भारत के बारे में झूठे प्रचार करके वहाँ धर्मान्तरण के द्वारा सच्चा प्रकाश लाने का दावा करके अमेरिकी लोगों से काफी धन ऐंठते थे। पर स्वामीजी अपने व्याख्यानों से अमेरिकावासियों को भारत, उसके धर्म-दर्शन तथा संस्कृति के बारे में जो कुछ बता रहे थे, उससे वहाँ की जनता की आँखें खुल गयीं और मिशनरियों के धन्धे को काफी धक्का लगा। इसीलिये वे लोग जी-जान से स्वामीजी के विषय में झूठे प्रचार में लग गये थे। यहाँ तक कि उन्हें जहर भी देने का प्रयास हुआ। स्वामीजी अकेले पड़ गये, तथापि उन्होंने इस मिथ्या प्रचार का प्रतिवाद करने का निश्चय किया।

९ अप्रैल १८९४ को उन्होंने मद्रास के अपने शिष्य आलासिंगा पेरूमल के नाम एक पत्र में लिखा – "मेरे यहाँ अनेक मित्र हैं, जिनमें से कई बहुत प्रभावशाली हैं। निःसन्देह कट्टर पादरी मेरे विरुद्ध हैं और मुझसे मुठभेड़ करना कठिन जानकर वे हर प्रकार से मेरी निन्दा करते हैं और मुझे बदनाम करने और विरोध करने में भी नहीं हिचकिचाते। और इसमें मजूमदार उनकी सहायता कर रहे हैं। वे ईर्ष्या के मारे पागल हो गये लगते हैं। उन्होंने उन लोगों से कहा है कि मैं बहुत बड़ा धोखेबाज और धूर्त हूँ! और इधर वे कलकत्ते में कहते फिर रहे हैं कि मैं अमेरिका में अत्यन्त पापपूर्ण एवं लम्पट जीवन बिता रहा हूँ। भगवान उनका भला करें! मेरे भाई, बिना बाधा के कोई भी अच्छा काम नहीं हो सकता। जो अन्त तक प्रयत्न करते हैं, उन्हें सफलता प्राप्त होती है।... मेरा विश्वास है कि जब एक जाति, एक वेद, शान्ति और एकता होगी, तब सत्ययुग आयेगा। वह सत्ययुग का विचार ही भारत को पुनः जीवन प्रदान करेगा।

"यदि कर सको, तो एक काम करना है। क्या तुम मद्रास में महाराजा-रामनाद या अन्य किसी बड़े आदमी की अध्यक्षता में एक ऐसी सभा आयोजित कर सकते हो, जिसमें मेरे यहाँ हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने के प्रति पूर्णतया समर्थन तथा सन्तोष प्रकट किया जाय और फिर उस पारित प्रस्ताव को यहाँ के 'शिकागो हेराल्ड', 'इंटर ओशन' तथा 'न्यूयार्क सन' और डिट्राएट (मिशिगन) के 'कामर्शियल एडवर्टाइजर' को भेज दिया जाय? ... इसकी प्रतियाँ डॉ. बैरोज, चेयरमैन, धर्म-महासभा, शिकागो के पते पर भेजो। एक प्रति श्रीमती जे.जे. बैग्ली, डिट्राएट, वाशिंगटन एवेन्यू के पते पर भी भेजो। ...

"इस सभा को जितना बड़ा बना सकते हो, बनाओ। धर्म एवं देश के नाम पर उसमें भाग लेने के लिये सभी बड़े लोगों को पकड़ो। मैसूर के महाराजा और दीवान से सभा एवं उसके उद्देश्यों का समर्थन करनेवाला पत्र लेने की चेष्टा करो। ऐसा ही पत्र खेतड़ी से भी प्राप्त करो। तात्पर्य यह कि सभा जितनी बड़ी और जितनी प्रचारित हो सके, उतना ही अच्छा।

"प्रस्ताव कुछ इस आशय का होगा कि मद्रास की हिन्दू जनता मेरे यहाँ के कामों के प्रति अपना पूर्ण सन्तोष व्यक्त करती है, आदि।

"यदि सम्भव हो, तो यह सब करो। कोई बहुत ज्यादा काम नहीं है। इसके अतिरिक्त देश के सभी भागों से समर्थन-पत्र प्राप्त करो और उनकी प्रतिलिपि अमेरिका के पत्रों को भेज दो। इसमें जितनी जल्दी हो, उतना ही अच्छा। इसका बहुत व्यापक परिणाम होगा, मेरे भाई। ब्राह्मसमाज के लोग यहाँ मेरे विरुद्ध हर तरह की बकवास कर रहे हैं। हमें जितना शीघ्र हो सके, उनका मुँह बन्द करना होगा।

"बच्चो, उठो, काम में लग जाओ। यदि तुम यह कर

सके, तो मुझे आशा है कि भविष्य में हम बहुत कुछ कर सकेंगे। चिरकाल तक सनातन धर्म का डंका बजेगा। सभी झूठों तथा धूर्तों का नाश हो ! ...

"... गिरीशचन्द्र घोष और (हरमोहन) मित्र मेरे गुरुदेव के सभी प्रेमियों को एकत्र कर ऐसा ही काम कलकत्ते में भी कर सकते हैं। वे कर सकें, तो और भी अच्छा है।... कलकत्ता में ऐसे हजारों हैं, जो हमारे आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रखते हैं। खैर, मुझे उनसे अधिक तुम पर विश्वास है।"[१]

१८९४ में अपने गुरुभाइयों के नाम एक पत्र में लिखते हैं – "इस देश (अमेरिका) में मैं और भी बहुत-सा कार्य कर सकता था, परन्तु ब्राह्मसमाजी तथा मिशनरी लोग मेरे पीछे लगे हुए हैं और भारतीय हिन्दुओं ने भी मेरे लिये कुछ नहीं किया। मेरा तात्पर्य यह है कि यदि कलकत्ता या मद्रास के हिन्दुओं ने एक सभा बुलाकर मुझे अपना प्रतिनिधि स्वीकार करते हुए एक प्रस्ताव पारित करवाया होता तथा मेरे प्रति किये गये उदारतापूर्ण स्वागत के लिये अमेरिकावासियों को साधुवाद दिया होता, तो यहाँ पर कार्य में अच्छे ढंग से प्रगति होती। लेकिन एक साल बीत गया और कुछ नहीं हुआ – निश्चय ही मैंने बंगालियों पर भरोसा नहीं किया था, परन्तु मद्रासी लोग भी तो कुछ नहीं कर सके।"[२]

२० जून १८९४ को जूनागढ़ के दीवान हरिदास विहारीदास देसाई के नाम अपने पत्र में लिखते हैं – "(मेरे एक देशवासी)... अमेरिकनों से कहते रहे कि मैंने अमेरिका में ही संन्यासियों के वस्त्र धारण किये हैं और मैं एकदम धूर्त हूँ।... मैं यहाँ एक वर्ष से हूँ, परन्तु किसी भी प्रतिष्ठित भारतीय ने अमेरिकनों को यह बताना तक उचित नहीं समझा कि मैं धूर्त नहीं हूँ। फिर यहाँ मिशनरी लोग सदा मेरे विरुद्ध कही गयी बातों की ताक में रहते हैं और सदा भारत के ईसाई पत्रों द्वारा मेरे विरुद्ध लिखी गयी बातों को खोजने और उनको यहाँ प्रकाशित कराने में व्यस्त रहते हैं। ...

"मिशनरी तथा ब्राह्मसमाजी मेरी योजनाओं में बाधा डालने का प्रयास करते रहते हैं।... एक साल बीत गया और हमारे देशवासी मेरे लिये इतना भी नहीं कर सके कि अमेरिकियों से कहते कि मैं वंचक नहीं, बल्कि यथार्थ संन्यासी हूँ और मैं उनका धर्म-प्रतिनिधि हूँ। इतना भी – कुछ शब्दों का व्यय भी वे नहीं कर सके। शाबाश, मेरे देशवासियो ! दीवानजी, मैं उनको प्यार करता हूँ। मानवीय सहायता की मैं परवाह नहीं करता। मुझे आशा है कि वह (भगवान) मेरे साथ रहेगा, जो सदा पर्वत-श्रेणियों तथा घाटियों में, मरुस्थलों तथा वनों में मेरे साथ रहा है; यदि ऐसा नहीं हुआ, तो किसी -न-किसी दिन इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिये मुझसे भी बहुत अधिक योग्य कोई वीर पुरुष उत्पन्न हो जायेगा।"[३]

सभाओं के विवरण

स्वामीजी का पत्र ९ अप्रैल का पत्र मिलते ही आलासिंगा उनके निर्देशानुसार सभा के आयोजन में लग गये और २८ अप्रैल को ही मद्रास में एक विराट् सभा सम्पन्न हुई। परन्तु सूचना के अभाव में इस विलम्ब के लिये भारतवासियों की अकर्मण्यता तथा अकार्य-कुशलता को उत्तरदायी मानकर स्वामीजी नाराज तथा उद्विग्न हो रहे थे। मद्रास की इस विराट् जनसभा के कुछ महीनों बाद कुम्भकोणम, बंगलोर तथा अन्य स्थानों में भी वैसी ही सभाएँ हुईं। रामनाद (रामेश्वरम्) के राजा भास्कर सेतुपति ने स्वामीजी के कार्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें एक पत्र भेजा। खेतड़ी नरेश ने भी ४ मार्च १८९५ को दरबार बुलाकर उनके कार्य का अनुमोदन किया था।[४]

२४ अप्रैल को मद्रास में हुई सभा का विवरण अमेरिका पहुँचने तथा वहाँ के समाचार-पत्रों में प्रचारित होने में काफी समय लगा था। परन्तु निम्नोक्त सभाओं के विवरण अमेरिकी अखबारों में प्रकाशित हो जाने के बाद स्वामीजी का मार्ग सुगम हो गया था। स्वामीजी के आह्वान पर निम्न महत्त्वपूर्ण स्थानों पर सभाएँ हुईं थीं – २८ अप्रैल १८९४ को मद्रास में; २२ अगस्त १८९४ को कुम्भकोणम में; २६ अगस्त १८९४ को बैंगलोर में; ५ सितम्बर १८९४ को कोलकाता में; ४ मार्च, १८९५ को खेतड़ी के दरबार में। कुछ सभाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

मद्रास की सभा (२८ अप्रैल १८९४)

आलसिंगा तथा स्वामीजी के अन्य मद्रासी शिष्यों तथा अनुरागियों के प्रयासों से २८ अप्रैल को मद्रास नगर में एक विराट् जनसभा हुई। इस सभा की अध्यक्षता दीवान बहादुर एस. सुब्रमण्य अय्यर, सी.आइ.ई. ने की तथा इसमें राजा सर रामस्वामी मुदलियार, सुन्दरराम अय्यर, श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य आदि अनेक गणमान्य लोग उपस्थित हुए। रामनाद के महाराजा ने एक टेलीग्राम भेजा था।

सभा में श्री सी. रामचन्द्र साहब द्वारा रखे गये पहले प्रस्ताव के माध्यम से (शिकागो की) धर्म-महासभा में भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व करने और वहाँ हिन्दू धर्म की सुबोध प्रस्तुति करने के लिये स्वामीजी को धन्यवाद दिया गया था। दूसरा प्रस्ताव श्री ओ. पार्थसारथी अयंगार द्वारा रखा गया, जिसमें स्वामीजी को सद्भाव तथा सहानुभूतिपूर्ण स्वागत करने हेतु अमेरिकी जनता को धन्यवाद दिया गया था। इसके बाद श्री टी.पी. कोदण्ड राम अय्यर ने उपरोक्त प्रस्तावों की प्रतियाँ स्वामीजी तथा डॉ. बैरोज को भेजने का तीसरा प्रस्ताव रखा।

---

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३४२

२. वही, खण्ड ३, पृ. २९८

३. वही, खण्ड २, पृ. ३६४,३६७

४. युगनायक विवेकानन्द, सं. २००५, खण्ड २, पृ. १२२-१३१

सभापति ने अपने अभिभाषण में कहा था – "कुशल प्रशासन तथा भौतिक समृद्धि के द्वारा हमारे बन्धन निश्चित रूप से छिन्न-भिन्न हो जायेंगे और हमें आशा है कि तब हमारा देश अपने राष्ट्रीय पुनर्जागरण का उपयोग विश्व के आध्यात्मिक उन्नयन के लिये कर सकेगा।... विवेकानन्द का अमेरिका-भ्रमण तथा वहाँ उनकी सफलता अमेरिकी तथा हिन्दू – दोनों के लिये ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ... (हिन्दू धर्म के परम सत्यों के प्रचार की दृष्टि से) विवेकानन्द भारत की सर्वश्रेष्ठ सन्तानों में से एक हैं।"

रामचन्द्र राव साहब ने कहा – 'जिन लोगों को स्वामीजी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला है, वे सभी कहते है कि यदि कोई एक घण्टा भी उनसे सान्निध्य में बिता ले, तो वह उनकी विद्वत्ता के विस्तार, विचारों की गहराई और लक्ष्य के प्रति उनकी निष्ठा को देखकर चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकता।" पचियप्पा कॉलेज के प्रधान शिक्षक गोपालकृष्ण मुदलियार ने अपने सम्बोधन में कहा – "युवावस्था से ही मेरी दर्शन-शास्त्र में रुचि थी। अपने प्रश्नों के उत्तर की खोज में मैं काफी दूर-दूर तक घूमा, परन्तु मेरे प्रश्नों का समाधान करनेवाला स्वामीजी के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं मिला। ... स्वामीजी केवल हिन्दू शास्त्रों के ही ज्ञाता नहीं हैं; वे बौद्ध शास्त्रों के भी विद्वान् हैं और कुरान के भी अध्येता हैं।"

बैंगलोर की सभा (२६ अगस्त १८९४)

मद्रास की सभा के चार माह बाद (२६ अगस्त १८९४ को) मैसूर रियासत के प्रमुख नगर बैंगलोर में आयोजित इस सभा की अध्यक्षता दीवान बहादुर सर के. शेषाद्री अय्यर ने की। मंच पर उनकी बगल में महाराजा के प्रमुख सलाहकार चेंटसाल राव पंतुलु और हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री रामचन्द्र अय्यर तथा श्री कृष्णमूर्ति, पुलिस के इंस्पेक्टर जनरल श्री वी.पी. माधवराव तथा अन्य विशिष्ट लोग विराजमान थे। अध्यक्षीय भाषण के पूर्व श्री जी.जी. नरसिंहाचार्य ने स्वामीजी के जीवन पर संक्षेप में प्रकाश डाला। इस सभा में तीन प्रस्ताव पास किये गये। पहले प्रस्ताव में स्वामीजी को अमेरिका में उनके कार्य हेतु धन्यवाद दिया गया, दूसरे में उनके प्रति सद्भाव दिखाने के लिये अमेरिकी लोगों को धन्यवाद दिया गया और तीसरे में सभापति से अनुरोध किया गया कि प्रस्ताव की प्रतियाँ स्वामीजी तथा डॉ. बैरोज को भेजने की व्यवस्था की जाय।[५]

दीवान बहादुर सर के. शेषाद्री अय्यर ने अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में कहा था – "लगभग दो वर्ष पूर्व स्वामीजी हमारे प्रान्त की यात्रा पर आये थे और तब उनके आध्यात्मिक चर्चाओं को सुनने का सौभाग्य पानेवाले लोगों पर उनके जीवन तथा उपदेशों का अमिट प्रभाव पड़ा था। वे वास्तव में परमहंस अथवा सर्वोच्च हिन्दू धार्मिक सम्प्रदाय के संन्यासी हैं।... उन्हें सांसारिक मिथ्याभिमान छू तक नहीं गया है और वे शरीर के सुख-दु:ख तथा आवश्यकताओं के प्रति पूर्णत: उदासीन रहते हैं।... उनका एकमात्र उद्देश्य यह है कि हमारे प्राचीन वेदों में वर्णित ज्ञान को अन्यों की पहुँच के भीतर और अब पश्चिमी राष्ट्रों की पहुँच के भीतर ला सकें।... अमेरिका के लोग भौतिक सम्पन्नता की चोटी पर हैं। उनके सामने हमारे वेदों में वर्णित जीवन के आध्यात्मिक दृष्टि से अमर पक्ष पर विकीर्ण होने वाले प्रकाश को ले जाकर तथा सब अमेरिकी जिज्ञासुओं के लिये शान्ति तथा परमानन्द के हमारे वेदान्त धर्म को सुलभ बनाकर स्वामी विवेकानन्द अमेरिका तथा भारत दोनों की ही महती सेवा कर रहे हैं।"[६]

कोलकाता की सभा (५ सितम्बर, १८९४)

कलकत्ते की सभा ५ सितम्बर १८९४ को वहाँ के टाउन हॉल में सम्पन्न हुई थी। इसकी अध्यक्षता राजा प्यारी मोहन मुकर्जी ने की। सभा में हिन्दू समाज के अनेक गण्यमान्य प्रतिनिधि उपस्थित थे, जिनमें थे विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वान्, जमींदार, जज, वकील, बैरिस्टर, पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक, राजनेता, महाविद्यालयों के प्राध्यापक तथा और भी बहुत-से विख्यात व्यक्ति। इस प्रकार हिन्दू समाज के कर्णधारों ने इस महती सभा को एक सर्वानुमोदित समारोह में परिणत कर दिया था। हिन्दू समाज की मर्यादा-रक्षा के लिए होनेवाली इस सर्वांगीण प्रतिक्रिया में ही विवेकानन्द की सफलता का पहला प्रत्यक्ष सुफल दीख पड़ा था। सभा में सुप्रसिद्ध वक्ता सुरेन्द्र नाथ बन्द्योपाध्याय, एन.एन. घोष, नरेन्द्रनाथ सेन आदि के अंग्रेजी में व्याख्यान हुए और बँगला में श्रीयुत मनोरंजन गुह-ठाकुरता तथा हेमेन्द्रनाथ मित्र के भाषण सर्वाधिक हृदयग्राही थे। इन व्याख्यानों के फलस्वरूप सभी सनातन-धर्मावलम्बियों के बीच आत्मीयता एवं स्वधर्म-निष्ठा का बोध जाग्रत हुआ।

सभा में श्री भूदेव कविरत्न ने कहा था – "आज स्वामी विवेकानन्द के समान महात्मा सुदूर अमेरिका में खड़े होकर, आध्यात्मिक ज्ञानराज्य के उच्च आकाश में स्थित होकर जो ध्वनि कर रहे हैं, उस मेघ-गर्जन से आज समग्र भारत हर्षोन्मत्त हो उठा है।... वस्तुत: स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में जैसे हिन्दू धर्म का आन्दोलन-तूफान प्रवाहित करके वर्तमान भारतवर्ष को आनन्दित किया है, ऐसा आनन्द-चिह्न बहुत दिनों से देखने को नहीं मिला था।"[७]

---

५. Vivekananda in Contemporary Indian News 1893-1902, Calcutta, Ed. 1997, Vol I, P. 22-25; A Comprehensive Biography of Swami Vivekananda, Chennai, Ed. 2005, Vol. II, P. 835-36; विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष, खण्ड १, पृ. १८६

६. दीवान शेषाद्रि अय्यर, एन.एस. चन्द्रशेखर, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, सं. १९८६, पृ. १९०-९१

७. विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष, खण्ड १, पृ. १९३

सभाओं के रीपोर्ट : स्वामीजी का निर्देश

मद्रास में हुई इस सभा की सूचना मिलने पर स्वामीजी ने अमेरिका से ही **११ जुलाई १८९४** को आलासिंगा पेरूमल को निर्देश देते हुए लिखा – "सभा के प्रस्ताव की कुछ प्रतिलिपियाँ डॉ. बैरोज को भेजना, साथ ही मेरे प्रति सदय व्यवहार के लिये उन्हें धन्यवाद देते हुए एक पत्र भी लिखना तथा उनसे अमेरिका की पत्रिकाओं में यह समाचार प्रकाशित करने के लिये अनुरोध करना; इससे मिशनरी लोग मुझ पर यह जो मिथ्या लांछन लगा रहे हैं कि मैं किसी का प्रतिनिधि नहीं हूँ, उसका समुचित खण्डन हो जायेगा।...

"बोस्टन के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापक जे. एच. राइट को प्रस्ताव की एक प्रतिलिपि भेजना, साथ ही पत्र में इस बात का उल्लेख कर उन्हें धन्यवाद देना कि वे ही अमेरिका में पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने मुझे मित्र रूप से ग्रहण किया था तथा उनसे यह समाचार-पत्रों में प्रकाशित करने के लिए अनुरोध भी करना, इससे मिशनरियों का यह कथन कि मैं किसी का भी प्रतिनिधि होकर नहीं आया हूँ, पूर्णत: झूठ प्रमाणित हो जायेगा।...

"श्रीमती जी. डब्ल्यू. हेल मेरी परम हितैषी हैं; मैं उनको माता तथा उनकी कन्याओं को बहन कहता हूँ। उनको भी प्रस्ताव की एक प्रतिलिपि भेज देना तथा अपनी ओर से एक पत्र द्वारा उन्हें धन्यवाद देना।... खेतड़ी के महाराजा साहब के साथ सदा पत्र-व्यवहार करते रहना। कार्य के विस्तार का प्रयत्न करते रहो। ध्यान रखना कि गति तथा प्रगति ही जीवन के चिह्न हैं।...

"जो प्रस्ताव सभा में स्वीकृत हो चुके हों, उसकी प्रतिलिपि डॉ. जे.एच. बैरोज, सभापति, धर्म-महासभा, शिकागो को भेज देना तथा उनसे उक्त पत्र तथा प्रस्तावों को पत्रिकाओं में प्रकाशित करने के लिए अनुरोध करना।

"उन विषयों को प्रकाशित करने के लिए इस प्रकार का अनुरोध-पत्र भी सभा के किसी जिम्मेवार व्यक्ति की ओर से डॉ. बैरोज तथा डॉ. पॉल केरस के पास पहुँचना चाहिए। विश्व-महामेला (डिट्राएट, मिशिगन) के अध्यक्ष सिनेटर पामर को भी प्रस्तावों की प्रतिलिपि तथा पत्र भेजना – मेरे प्रति उनका बहुत ही सदय बर्ताव रहा है। इस प्रकार का एक पत्र तथा प्रस्ताव की प्रतिलिपि श्रीमती जे.जे. बैग्ली, वाशिंग्टन एवेन्यू, डिट्राएट के पते पर भेजना तथा उनसे भी उसे अखबारों में प्रकाशित करने के लिए अनुरोध करना। अखबारों में प्रकाशनार्थ स्वयं भेजना जरूरी नहीं, नियमानुसार उपयुक्त व्यक्तियों के समीप भेजना ही मुख्य है अर्थात् डॉ. बैरोज जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तियों के मार्फत प्रकाशित होने पर उसे प्रमाणित माना जायेगा। पत्रिकाओं में प्रकाशित होने से ही उसे प्रमाणित माना जायेगा, यह बात नहीं है। सब से अच्छा तरीका यह है कि प्रस्ताव आदि डॉ. बैरोज को भेजा जाय तथा उनसे पत्रिकाओं में प्रकाशित करने के लिए अनुरोध किया जाय। मेरा इतना लिखने का तात्पर्य यह है कि तुम दूसरे देश के रीति-रिवाजों को ठीक-ठीक नहीं जानते हो। यदि कलकत्ते के प्रसिद्ध व्यक्तियों की ओर से भी इस प्रकार के प्रस्ताव आदि यहाँ भेजे जायँ, तो फिर अमेरिकन लोग जिसे 'बूम' कहते हैं, मुझे वही प्राप्त होगा (अर्थात् मेरे बारे में एक विपुल उत्साह फैल जायेगा) और इससे मैं आधी लड़ाई जीत लूँगा। तब यांकिओं (अमेरिकियों) को भी यह विश्वास हो जायेगा कि मैं यथार्थ में हिन्दुओं का ही प्रतिनिधि हूँ और तभी वे अपनी गाँठ से पैसे निकालेंगे।"

३१ अगस्त १८९४ के पत्र में स्वामीजी लिखते हैं – "अभी मैंने 'बॉस्टन ट्रांस्क्रिप्ट' में मद्रास की सभा के प्रस्तावों के आधार पर लिखा अपने ऊपर एक सम्पादकीय देखा। उन प्रस्तावों की प्रतिलिपि आदि मुझे कुछ भी नहीं मिली है। यदि तुम लोगों ने भेजी हो तो शीघ्र ही मिलने की आशा है। प्रिय वत्स, अब तक तुम लोगों ने बहुत-कुछ अद्भुत कार्य किया है। कभी कभी घबड़ाकर मैं जो कुछ लिख देता हूँ, उसका कुछ ख्याल न करना। यह तो तुम जानते ही हो कि अपने देश से पन्द्रह हजार मील की दूरी पर मैं अकेला हूँ – कट्टर-पन्थी शत्रुभावापन्न ईसाइयों के साथ मुझे लड़ना पड़ रहा है – अत: कभी कभी घबड़ा उठता हूँ। हे साहसी बच्चो, इन बातों को ध्यान में रखकर कार्य करते रहो।"

खेतड़ी-दरबार का प्रस्ताव (४ मार्च, १८९५)

खेतड़ी के महाराजा अजीतसिंह ही सम्भवत: स्वामीजी के अमेरिकी कार्य के समर्थन में पत्र लिखनेवालों में सर्वप्रथम थे। उन्होंने इस विषय में **७ अप्रैल १८९४** को स्वामीजी के नाम जो पत्र भेजा था, उसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं। अब लगभग वर्ष भर बाद उन्होंने एक बार फिर **४ मार्च १८९५** को एक दरबार बुलाकर स्वामीजी के अमेरिकी कार्य का अनुमोदन करते हुए एक प्रस्ताव पारित कराया था।

ऐसा लगता है कि राजा अजीतसिंह ने माउंट आबू में भी अनेक राजपूत राजाओं की एक सभा बुलाकर इसी तरह का एक प्रस्ताव पास कराकर भेजा था। परन्तु इस विषय में स्वामीजी के एक पत्र में उल्लेख के सिवा अन्य कोई सूचना नहीं मिलती। स्वामीजी ने १६ मई १८९५ को न्यूयार्क से श्रीमती हेल के नाम एक पत्र में लिखा था – "मैं खेतड़ी से एक बड़े पैकेट की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। इस बड़ा पैकेट में खेतड़ी के राजा द्वारा भेजा गया वह प्रस्ताव है, जो माउंट आबू में आयोजित राजपूत राजाओं की एक सभा में इस देश में मेरे कार्य के अनुमोदन में पारित किया गया था।"

❖ (क्रमश:) ❖

पिता का कर्ज

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करत हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'भूले न भुलाए' पुस्तक के कुछ अंश। – सं.)

राजस्थान में चूरू एक पुराना कस्बा है। आज से डेढ़-दो सौ वर्ष पहले यहाँ एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार रहता था, जिसका मालवा में बड़े पैमाने पर व्यापार था। जब अफीम को लेकर ब्रिटेन और चीन का युद्ध हुआ, तो इनको घाटा लगा, काम बन्द हो गया और देनदारी रह गयी।

इसके बाद, परिवार के स्वामी सेठ उजागर मल को कभी घर के बाहर निकलते नहीं देखा गया। कभी-कभार यदि कोई उनसे मिलने भी गया, तो उनका चेहरा नहीं देख सका, क्योंकि वे अपना मुँह चद्दर से ढँके रहते थे। इसी शोक से उनका कम आयु में ही देहान्त हो गया। परिवार में उनकी विधवा पत्नी और तेरह वर्ष का पुत्र रामदयाल रह गये।

उजागर मल ने गहने और जमीन-जायदाद बेचकर अपना बहुत-सा कर्ज तो चुका दिया था, तो भी मरते समय तक कुछ कर्ज बाकी रह गया था। अन्तिम समय में उन्होंने पत्नी तथा पुत्र रामदयाल को एक कागज दिया, जिस पर कर्ज देने वालों के नाम और रकमें लिखी थीं। पुत्र को उनका अन्तिम आदेश था कि मेरी आत्मा को तभी शान्ति मिल सकेगी, जब किसी दिन तुम ब्याज-समेत यह कर्ज चुका दोगे।

दो वर्ष बाद रामदयाल का विवाह हुआ। इस मौके पर विधवा-माँ ने थोड़ा-बहुत कर्ज लेकर पूरी बिरादरी को न्यौता दिया। बहू की अगवानी के समय किसी ने ताना कस दिया कि बाप का कर्ज तो चुका ही नहीं और विवाह में इतनी धूम-धाम है। किशोर रामदयाल को यह बात चुभ गयी और विवाह के कंगन के डोरे खुल भी नहीं पाये थे कि उसने सुदूर-पूर्व असम जाने का निश्चय कर लिया। बहू तो अभी तेरह वर्ष की बालिका थी, उसे दाम्पत्य-जीवन और पति-प्रेम की जानकारी ही क्या थी? माँ और पड़ोसियों ने रामदयाल को बहुत समझाया कि कुछ दिन ठहर जाओ और थोड़े बड़े हो जाने पर चले जाना। परन्तु उसने किसी की न सुनी और रोती-बिलखती माँ और बहू को छोड़कर, पूरब की यात्रा पर जा रहे कुछ लोगों के साथ, वह भी चल पड़ा।

उन दिनों असम की यात्रा में तीन-चार महीने लग जाते थे। ट्रेन कोलकाता से कानपुर तक ही बनी थी। राजस्थान से कानपुर जाने में पचीस-तीस दिन लगते थे। कोलकाता से नौका में बैठकर असम जाने में डेढ़-दो महीने लग जाते थे। रास्ते में पद्मा नदी पड़ती थी, जिसके तेज बहाव में कभी-कभी नौकाएँ डूब भी जातीं। इसके सिवा जल-दस्युओं का भी डर बना रहता था, अत: पूरा बन्दोबस्त करने के बाद और कई आदमी एक साथ मिलकर ही असम-यात्रा पर जाते थे। एक बार जाकर लोग आठ-दस वर्ष की मुसाफिरी करके ही घर लौटते थे। रास्ते इतने संकटमय थे कि बहुत-से लोग तो वापस नहीं आ पाते थे। यात्रा के समय रामदयाल के पास सम्बल के रूप में एक धोती, एक लोटा और कुछ चना-चबेना था, परन्तु साथ ही दृढ़ विश्वास एवं साहस था।

असम की आबोहवा नम रहने के कारण, वहाँ मलेरिया तथा कालाज्वर का प्रकोप बना रहता था। पर व्यापार में गुंजाइश थी, इसलिये लोग पानी की जगह चाय पीकर रहते थे। बुखार हो जाने पर दवाइयाँ खाते रहते थे। कुनैन का तो उस समय तक आविष्कार ही नहीं हुआ था।

रामदयाल को राजस्थान से तिनसुकिया (असम) पहुँचने में चार-पाँच महीने लग गये। वहाँ जाकर उसने कपड़े की फेरी का काम शुरू किया। सुबह वह कन्धे पर कपड़े लादकर गाँवों में निकलता और शाम तक एक या दो रुपये कमाकर अपने डेरे पर वापस आ जाता।

इस समय तक वहाँ मारवाड़ियों की कुछ दुकानें हो गयी थीं और यह आम रिवाज था कि नया आया हुआ कोई भी व्यक्ति निस्संकोच उनके बासे में खाना खा सकता था। जब अच्छी कमाई होने लगती, तो अपनी अलग व्यवस्था कर लेता। इसके सिवा पहले से बसे हुये मारवाड़ियों से व्यापार में भी वाजिब सहायता और प्रोत्साहन मिलता रहता था। रामदयाल को इनका पूरा सहयोग मिला।

कड़ी मेहनत और ईमानदारी से दस वर्षों में उसने इतने रुपये कमा लिये, जिससे वह अपने पिता का ब्याज-सहित पूरा कर्ज चुका सका। वर्ष में एक-दो-बार किसी पड़ोसी से लिखाया हुआ माँ का पत्र मिल जाता। जिसमें घर आने का तकाजा रहता था। उन दिनों बेचारी पत्नी तो पति को पत्र देने

का साहस ही नहीं कर सकती थी।

इस प्रकार छह-सात वर्ष और व्यतीत हो गये। इस बीच रामदयाल के पास चालीस-पचास हजार की पूंजी और अपनी निजी दुकान भी हो गयी। एक दिन अचानक ही पत्र मिला कि उसकी माँ सख्त बीमार है और अन्तिम समय में रामदयाल को देखना चाहती है।

अपनी दुकान की सारी व्यवस्था मुनीमों को सँभला कर वह देश के लिये रवाना हुआ। जैसे आया था, वैसे ही दो-तीन महीने में भिवानी पहुँचा। इस समय तक कानपुर से भिवानी तक रेल-लाइन बन गयी थी। असम आते वक्त तो रुपये के अभाव में रामदयाल अपने घर (राजस्थान) से पैदल ही कानपुर तक आया था। पर अब उसकी स्थिति अच्छी हो गयी थी, इसलिये भिवानी से ऊँट किराये पर लेकर वह अपने गाँव के लिये रवाना हुआ। सोलह-सत्रह वर्ष के लम्बे समय के बाद वह राजस्थान लौट रहा था। हरी-भरी उपजाऊ असम की भूमि से उसका इतना सान्निध्य हो गया था कि इस रेतीली मरुभूमि को वह एक प्रकार से भूल-सा गया था। पर जैसे ही उसने बड़-बड़े टीलों और उनकी चमचमाती हुई रेती को देखा, तो उसे बचपन के वे दिन याद आ गये, जब वह हम-उम्र संगी-साथियों के साथ इन पर खेलता और लोटता था। उसका मन हुआ कि ऊँट पर से इसी दम उतर पड़े और एक बार फिर जी-भर कर इस रेत का आलिंगन करे।

चार दिन बाद एक सुबह जब वह अपने गाँव के किनारे पहुँचा, तो देखा कि कुछ लोग एक सधवा-स्त्री की अर्थी लिये हुए जा रहे हैं। रामदयाल सोलह-सत्रह वर्ष के बाद गाँव लौटा था, इसलिये न तो वह स्वयं किसी को पहचानता था और न कोई उसे ही पहचानता था। अर्थी के साथ जा रहे लोग आपस में बातें कर रहे थे कि इस बेचारी (मृत महिला) ने जीवन में देखा ही क्या? सत्रह वर्ष पहले, विवाह होते ही पति परदेश चला गया, अभी तक वापस नहीं लौटा। एकमात्र सास का सहारा था, वह भी तीन महीने पहले इसे सदा के लिये छोड़ गयी। रामदयाल के मन में कुछ आशंका और जिज्ञासा हुई। जब उसने लोगों से पूछा तो पता चला कि यह तो उसकी अपनी पत्नी की ही अर्थी है। जिस वात्सल्य-मयी माँ और स्नेहमयी पत्नी से मिलने की आकांक्षा लिये वह आया था, वे दोनों ही अब नहीं रहीं। शेष रह गया था मात्र – गाँव तथा पड़ोस के लोगों के कटु वचन और निन्दा-स्तुति। उसका पैतृक मकान अब भी था, पर उसे सूने मकान में जाने की हिम्मत नहीं हुई। गाँव के एक मन्दिर में ठहर गया। इतने बड़े संकट में भी उसे सबसे बड़ा सन्तोष और सहारा इसी बात का था कि उसने पिता का सारा कर्ज ब्याज-सहित चुका दिया है। बिना किसी को अपना पूरा परिचय दिये वह चुपचाप उल्टे पाँव लौट गया।

रामदयाल के पिता ने उसे केवल एक कागज दिया था, जिस पर लेनदारों के नाम और रकमें लिखी थी। उन दिनों न तो स्टाम्प-पेपर पर ही कर्ज की लिखा-पढ़ी होती थी और न कोई गवाह या जामिन होता था। परन्तु वे लोग सबसे बड़ी लिखा-पढ़ी और गवाह-जामिन तो ईश्वर को मानते थे और पिता-पितामह का कर्ज चुकाये बिना सार्वजनिक उत्सवों में भी कभी-कभार ही शामिल होते थे। हमारे यहाँ ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे कि तीस-चालीस वर्ष बाद तक पुत्र और पौत्रों ने अपने पिता और पितामह का कर्ज चुकाया है।

यही कारण है कि हाल के वर्षों तक हमारे पूर्वजों के बिना मात्रा के हरफों में लिखे बही-खातों की अदालत में भी साख और इज्जत थी।

जागो ! उठो !

डॉ. भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

जागो-उठो बढ़ो तुम आगे,
तुम्हें मिलेगी राह।
जागा जो न, अभागा है वह,
उसको मिलती आह ।।

'जहाँ चाह है, राह वहीं पर',
इसे न जाना भूल।
करो प्रयास, शूल भी पथ के
बन जायेंगे फूल ।।

छोटी चींटी चढ़ते-चढ़ते
चढ़ जाती गिरि-शृंग।
सुमन-सुमन पर जा करके ही
मधुरस पाते भृंग ।।

उतर शिखर से नीचे निर्झर
बन जाता जल-धार।
बहती सरिता पा जाती है
जलसागर का प्यार ।।

मन मारे तुम क्यों बैठे हो,
मन का हो उद्धार।
मन के जीते जीत जगत में,
मन के हारे हार ।।

करो तपस्या तुम भी, जैसे
तपता है दिनमान।
उठो पंक से, जल के ऊपर
बिलसो कमल समान।

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
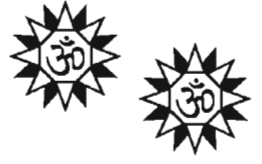
विरजा देवी (श्रीमती एडिथ एलेन)

१९०० ई. में मार्च के आरम्भ में सैन-फ्रांसिस्को के यूनियन स्क्वेयर पर स्थित रेडमेन्स हॉल में 'भारतीय आदर्शों' पर स्वामी विवेकानन्द के तीन व्याख्यानों की एक शृंखला आयोजित हुई थी। इस शृंखला के प्रथम व्याख्यान के समय ही मुझे पहली बार उन्हें सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार से रुग्ण होने के कारण मैं बड़ी कठिनाई से वह व्याख्यान सुनने गयी थी और हॉल में बैठकर स्वामीजी की प्रतीक्षा करते हुए सोच रही थी कि उनका व्याख्यान सुनने आकर कहीं मैंने भूल तो नहीं की है, पर हॉल में प्रवेश करते हुए स्वामीजी का भव्य व्यक्तित्व देखते ही मेरी सारी शंकाएँ दूर हो गयीं। करीब दो घण्टे तक वे हमें भारत के आदर्शों के विषय में बताते रहे और मानो हमें अपने देश में ही ले गये थे, ताकि हम लोग उन्हें थोड़ा-सा समझ सकें और उनके द्वारा सिखाये जा रहे महान् सत्यों की यत्किंचित् धारणा कर सकें। व्याख्यान के बाद मेरा स्वामीजी से परिचय कराया गया, पर उनके अद्भुत व्यक्तित्व से संकुचित होकर मैं उनसे कुछ बोल नहीं सकी और थोड़ी दूरी पर बैठकर उन्हें देखने लगी। उस समय मैं अपने मित्रों की प्रतीक्षा भी कर रही थी, जो व्याख्यान से जुड़े कार्यों को निपटाने में व्यस्त थे। दूसरे व्याख्यान के बाद मैं एक बार फिर अपने मित्रों की प्रतीक्षा करती हुई दूर बैठकर स्वामीजी को देख रही थी, उस समय उन्होंने मेरी ओर देखा और मुझे अपने पास आने का संकेत किया। वे एक कुर्सी पर बैठे थे और मैं जाकर उनके सामने खड़ी हो गयी। वे बोले – "मैडम, यदि आप मुझसे अलग से मिलना चाहें, तो टर्क स्ट्रीट के फ्लैट पर आइये। वहाँ पर कोई शुल्क नहीं लगता, रुपये-पैसे की कोई बात नहीं।"

मैंने कहा – "मैं आपसे मिलने को बड़ी उत्सुक हूँ।" वे बोले – "कल सुबह आ जाइये।" मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। अधिकांश रात यही सोचने में बीता कि मैं उनसे क्या-क्या पूछूँगी, क्योंकि महीनों से अनेक प्रश्न मुझे परेशान किये हुए थे और उनके समाधान हेतु मैं जिस किसी के पास गयी, वह मेरी सहायता नहीं कर सका था। अगले दिन सुबह फ्लैट में पहुँचने पर मुझे बताया गया कि स्वामीजी बाहर जा रहे हैं, अत: वे किसी से मिल नहीं सकते। मैंने कहा कि वे जानते हैं कि मैं आने वाली हूँ, क्योंकि उन्होंने ही कहा था कि मैं आ सकती हूँ। अत: मुझे सीढ़ियाँ चढ़कर बैठकघर तक जाने की अनुमति मिल गयी। थोड़ी देर बाद ही स्वामीजी एक लम्बा ओवरकोट तथा छोटी-सी गोल टोपी पहने मन्द स्वर में कुछ आवृत्ति करते हुए कमरे में आये। वे कमरे के दूसरी ओर एक कुर्सी पर बैठ गये और अपनी अप्रतिम आवाज में धीरे-धीरे गुनगुनाते रहे। इसके बाद उन्होंने कहा – "हाँ, तो मैडम, कहिये!" मैं कुछ बोलने में असमर्थ होकर रोने लगी और इस प्रकार रोती रही मानो मेरी भावनाओं का बाँध टूट गया हो। स्वामीजी कुछ देर तक आवृत्ति करते रहे और उसके बाद बोले – "कल इसी समय फिर आइये।"

इस प्रकार देवतुल्य स्वामीजी के साथ मेरा प्रथम साक्षात्कार समाप्त हुआ। फिर जब मैं उनके कमरे से बाहर जा रही थी, तो मैंने पाया कि मेरी सारी समस्याओं का समाधान हो गया है, मेरे प्रश्नों के उत्तर मिल चुके हैं, यद्यपि उन्होंने मुझसे कुछ पूछा न था। स्वामीजी से वह साक्षात्कार होने के बाद अब २४ वर्ष से भी अधिक हो चुके हैं, तो भी मेरे जीवन के महानतम वरदान के रूप में अब भी उसकी स्मृति स्पष्ट बनी हुई है। एक महीने मुझे प्रतिदिन स्वामीजी का दर्शन करने का अद्भुत सौभाग्य मिला था और मैं टर्क स्ट्रीट में होने वाली उनकी ध्यान की कक्षा में सम्मिलित हुआ करती थी।

कक्षा के बाद मैं वहीं ठहर जाती और भोजन आदि पकाने में उनकी मदद करती या फिर यों कहें कि मुझे उनके साथ रसोईघर में जाने तथा उनके लिये छोटे-मोटे कार्यों में मदद करने की अनुमति मिली हुई थी। उस दौरान वे भोजन पकाने के साथ-साथ वेदान्त-चर्चा तथा श्लोक-आवृत्ति भी किया करते थे। गीता के १८वें अध्याय के ६१वाँ श्लोक की वे प्राय: ही आवृत्ति किया करते थे –

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।।

– "हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं और अपनी माया की शक्ति से मानो उन्हें कुम्हार के चाक पर रखकर घुमाते रहते हैं।" वे संस्कृत में इसकी आवृत्ति करते और बीच-बीच में ठहरकर उस पर चर्चा करने लगते।

वे इतने अद्भुत थे, उनका स्वभाव इतना बहुमुखी था कि कभी वे बच्चों जैसे हो जाते, तो कभी वेदान्त-सिंह हो उठते। पर मेरे लिये तो वे सर्वदा दयालु तथा स्नेहमय पिता थे। उन्होंने मुझसे कहा था कि मैं उन्हें 'स्वामीजी' नहीं, बल्कि भारतीय बच्चों के समान 'बाबा' कहकर सम्बोधित करूँ। एक बार एक व्याख्यान के बाद जब मैं स्वामीजी के साथ पैदल चल रही थी, तो सहसा मुझे वे खूब बड़े दिखाई देने लगे, सामान्य लोगों की तुलना में काफी ऊँचे प्रतीत हो रहे थे। सड़क के लोग उनकी तुलना में बौने लग रहे थे और

उनका व्यक्तित्व इतना भव्य था कि लोग उनके लिये रास्ता छोड़कर किनारे हट जाते।

एक दिन व्याख्यान के उपरान्त स्वामीजी हम १०-१२ लोगों को आइसक्रीम खिलाने ले गये। हममें से किसी ने आइसक्रीम मँगाया, तो किसी ने आइसक्रीम-सोडा लाने को कहा। स्वामीजी आइसक्रीम पसन्द करते थे, उन्हें आइस-क्रीम-सोडे में रुचि न थी। आदेश ले जानेवाली परिचारिका ने भूल से स्वामीजी के लिये आइसक्रीम-सोडा ला दिया। फिर बोली कि वह उसे बदलकर ला देगी। दुकान का मालिक परिचारिका से इस विषय में कुछ कह रहा था और उसकी बात ज्योंही स्वामीजी के कानों में पड़ी, त्योंही वे वहीं से बोल उठे – "बेचारी बालिका को मत डाँटना। यदि उसे डाँटा, तो मैं तुम्हारा सारा आइसक्रीम सोडा खा जाऊँगा।"

टर्क स्ट्रीट में एक माह बिताने के बाद स्वामीजी अलामेड़ा गये और वहाँ 'होम ऑफ ट्रूथ' में ठहरे। वह सुन्दर उद्यान से घिरा हुआ एक विशाल भवन था। स्वामीजी धूम्रपान करते हुए उस उद्यान में टहला करते थे। भवन के सामने के हिस्से में एक विशाल बरामदा था, जिसमें बैठकर कभी-कभी वे वहाँ एकत्र होनेवाले लोगों के साथ वार्तालाप किया करते थे। इस्टर के रविवार की रात को पूर्णिमा थी। विस्टेरिया की लता फूलों से भरी हुई और बरामदे को एक पर्दे के समान ढँके हुए थी। स्वामीजी धूम्रपान करते हुए बरामदे में बैठे हुए थे और मजेदार कहानियाँ सुना रहे थे। उन्होंने बताया कि जब वे शिकागो में थे, तो किस प्रकार उनका जूता उनके पाँवों को कष्ट दे रहा था। फिर उन्होंने अपने पाँव के अँगूठे का इलाज करने वाली एक महिला-डॉक्टर के बारे में अपना अनुभव बताते हुए कहा था – "हाय, मेरा अँगूठा; हाय, मेरा अँगूठा ! जब कभी मुझे उस महिला-डॉक्टर की याद आती है, तो मेरे अँगूठे में पीड़ा होने लगती है।"

टोली में से किसी ने उनसे 'त्याग' पर कुछ बोलने को कहा। स्वामीजी बोले – "त्याग ! बच्चो, त्याग के बारे में तुम लोग भला क्या समझोगे !" पूछा गया – "तो क्या हम इतने छोटे हैं कि त्याग के बारे में सुन भी नहीं सकते?" स्वामीजी क्षण भर चुप रहे और उसके बाद उन्होंने एक अति ज्ञानगर्भित तथा प्रेरक व्याख्यान दिया। वे शिष्यत्व तथा गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण के विषय में बोले, जो पाश्चात्य लोगों के लिये एक बिलकुल ही नयी शिक्षा थी।

अलामेड़ा में रहते समय हर शनिवार को अपराह्न में स्वामीजी स्वयं भारतीय व्यंजन बनाया करते थे। उस समय भी मुझे उनके साथ रहने तथा उनके बनाये व्यंजनों का रसास्वादन करने का सौभाग्य मिलता। यद्यपि मैंने स्वामीजी के सैन-फ्रांसिस्को तथा अलामेड़ा में हुए सारे व्याख्यान सुने, तथापि मेरे लिये स्वामीजी के साथ इस घनिष्ठ सम्पर्क की स्मृतियाँ ही सर्वाधिक मधुर हैं। एक बार कुछ समय तक चुप रहने के बाद स्वामीजी ने कहा – "मैडम, उदार बनो, सर्वदा दोनों दृष्टियों से देखो। जब मैं उच्च स्तर पर रहता हूँ, तो कहता हूँ – 'सोऽहम् – मैं ब्रह्म हूँ' और जब मेरे पेट में दर्द हो रहा होता है, तो कहता हूँ – 'माँ, मुझ पर कृपा करो।' सर्वदा दोनों दृष्टियों से देखो।" एक अन्य समय उन्होंने कहा था – "साक्षी बनना सीखो। यदि सड़क पर दो कुत्ते लड़ रहे हों, तो मैं वहाँ चला जाता हूँ और उस झगड़े में शामिल हो जाता हूँ; परन्तु यदि मैं अपने कमरे में चुपचाप रह सकूँ, तो मैं खिड़की से उस लड़ाई को देख सकूँगा। इसलिये साक्षी बनना सीखो।"

अलामेड़ा में रहते समय स्वामीजी ने टकर हॉल में व्याख्यान दिये थे। 'मनुष्य की परम नियति' विषय पर एक अद्भुत व्याख्यान का उपसंहार करते हुए उन्होंने अपने सीने पर हाथ रखते हुए कहा – "मैं ईश्वर हूँ।" श्रोताओं के बीच भयमिश्रित सन्नाटा छा गया और अनेक लोगों ने स्वामीजी की इस उक्ति को धर्मविरोधी माना।

एक बार उन्होंने लीक से हटकर ऐसा कुछ किया था, जिससे मुझे थोड़ा-सा धक्का भी लगा था। उन्होंने कहा था – "मैडम, आप लोग सर्वदा इस तुच्छ बाह्य (व्यक्तित्व) को बड़े सुन्दर ढंग से दिखाना चाहते हैं। परन्तु महत्त्व बाहर का नहीं, बल्कि उसका है जो भीतर में है।"

हमने स्वामीजी को कितना कम समझा था। हमें जरा भी ज्ञान न था कि वे वस्तुत: कौन थे। कभी-कभी वे मुझसे कुछ कहते और मैं अपनी अज्ञता के चलते उनसे कह देती कि मुझे तो ऐसा नहीं लगता। इस पर वे हँसकर कहते – "नहीं लगता !" उनका स्नेह तथा सहनशीलता अद्भुत थी। अत्यधिक व्याख्यान के कारण स्वामीजी का स्वास्थ्य बिगड़ गया था। वे कहा करते थे कि मंच का कार्य उन्हें पसन्द नहीं है – "सार्वजनिक व्याख्यान मेरे लिये मृत्युपीड़ा के समान हैं। आठ बजे मुझे 'प्रेम' पर बोलना है और आठ बजे मुझमें प्रेम का स्फुरण नहीं हो रहा है !"

अलामेड़ा में व्याख्यान समाप्त हो जाने के बाद स्वामीजी कैम्प टेलर गये। इसके कुछ काल बाद वे भारत लौट पड़े और हम कैलीफोर्निया-वासी उन्हें दुबारा नहीं देख सके। तथापि जो लोग उनके सम्पर्क में आये थे, वे बोध नहीं कर सकते कि वे पूरी तौर से चले गये हैं। वे हमारी स्मृतियों तथा अपने दिये हुए उपदेशों में जीवित हैं। विदा लेने के पूर्व उन्होंने मुझसे कहा था कि यदि मैं फिर कभी मानसिक कठिनाइयों में पड़ूँ, तो उन्हें पुकारूँ; वे हजारों मील दूर हों, तो भी सुनेंगे और वे अब भी सुन पा रहे होंगे।

(वेदान्त-केसरी, सितम्बर १९२४ अंक से)

❖ (क्रमशः) ❖

माँ की पुण्य स्मृतियाँ

वीणापाणि घोष

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरे पूज्य ससुरजी को ठाकुर के दर्शन का सौभाग्य मिला था। जिन कुछ चुने भाग्यवान लोगों को ठाकुर ने अपना रसद-दार कहा था, उनमें से एक व्यक्ति का नाम ठाकुर की भाषा में 'सुरेश मित्तिर' था। सुरेन बाबू मेरे ससुरजी के बड़े घनिष्ठ मित्र थे। मेरे ससुरजी उस समय कोलकाता के सिमला स्ट्रीट में सुरेन बाबू के मकान के पास ही रहते थे। एक दिन उन्हीं के साथ मेरे ससुरजी दक्षिणेश्वर गये और ठाकुर के चरणों का दर्शन तथा उन्हें प्रणाम करने का सौभाग्य पाया। उन दिनों लोग साधु दर्शन करने जाते, तो अलौकिकता को ही साधु का मापदण्ड मानते; ईश्वर की खोज में बहुत कम लोग ही साधु के पास जाते थे। मेरे ससुरजी चीफ इंजीनियर थे। ठाकुर को प्रणाम करके जब वे उनके पास बैठे, तो वे जैसे सभी लोगों से कहा करते थे, "बीच-बीच में आना", वैसे ही उन्हें भी कहकर फिर बोले, "अरे, तेरी तो बदली हो गयी है।" घर लौटते ही मेरे ससुरजी ने देखा सरकार ने उन्हें पूर्णिया में तबादले की सूचना तार द्वारा भेजी है। इस पर इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उस समय तो उन्हें इसकी उम्मीद ही नहीं थी। इस अलौकिक घटना ने उनके हृदय को छू लिया था। लेकिन बदली होकर दूर चले जाने, संसार के नाना झंझटों में पड़ने से और कोलकाता से दूर रहने के कारण उनका दुबारा ठाकुर के पास जाना नहीं हो सका। उसके बाद जब वे कोलकाता लौटे, तब तक ठाकुर अपनी मानव-लीला संवरण कर चुके थे।

बहुत दिन बीत गये। ससुरजी की पहली सन्तान – मेरे डॉक्टर जेठ, जब मात्र पचीस वर्ष की उम्र में अपनी बालिका वधू और अबोध सन्तान को छोड़कर, अपने पिता-माता को शोक-सागर में डुबाकर काल-कवलित हो गये, तब उन्हें प्राणों में सांत्वना देने हेतु एक आत्मीय के हाथों 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के रूप में ठाकुर हमारे घर आये। उसी समय से हमारी तीन पीढ़ियाँ ठाकुर के श्रीचरणों से बँधी हैं।

मेरी बड़ी जेठानी बड़ी भक्तिमती थीं। उनके सम्पर्क से मेरी शोकातुरा सास श्रीमाँ के श्रीचरणों में जाकर शान्ति पाती थीं। कुछ दिन बाद कृपामयी माँ ने मेरी शोकातुरा सास और मेरी बड़ी जेठानी को मंत्रदीक्षा के द्वारा अपने चरणों में आश्रय दिया। उस समय मैं नितान्त बालिका थी, मन-ही-मन इच्छा रहते हुये भी कुछ कहने का साहस नहीं जुटा पाती थी।

अपनी सास के साथ कभी-कभी मैं माँ के श्रीचरण दर्शन करने जाती, उनके बातें घूंघट में ही सुनती। हमारे घर में पर्दा हटाने का रिवाज नहीं था या सास के सामने अन्य किसी के साथ बोलने का भी नियम नहीं था। अतः सास के साथ माँ का सान्निध्य पाकर भी उनके साथ बातें करने का सुयोग नहीं मिलता था।

मेरे पितृगृह में तब तक कोई ठाकुर का भक्त नहीं हुआ था। घूमने के लिये दक्षिणेश्वर या बेलूड़ मठ जाने के सिवा वहाँ से और कोई सम्पर्क नहीं था।[१]

माँ के श्रीचरणों का दर्शन या प्रणाम केवल अपनी सास के साथ ही हुआ, अलग से कभी नहीं हुआ। अतः माँ के चरणों में आश्रय लेने की अपनी इच्छा उनके सम्मुख व्यक्त करने का मुझे सुयोग नहीं मिल सका।

इसी प्रकार बहुत दिन बीत गये। उस समय मेरी पुत्री की आयु मात्र चार महीने थी, एक दिन मैं उसे भी लेकर गयी। उसके मस्तक को माँ के श्रीचरणों से लगाते ही, माँ ने उसे गोद में लेकर उसके सिर पर हाथ फेरकर पुनः मेरी गोद में दे दिया। इस प्रकार बीच-बीच में माँ का दर्शन मिलने पर भी मेरे प्राणों की आकुलता दूर नहीं होती थी।

मेरे पति की भी उस समय दीक्षा लेने में कोई रुचि न थी। वैसे उन्होंने मुझे इसके लिये मना नहीं किया और पूरे हृदय से बोले, "तुम माँ का आश्रय लो, मेरी जब जहाँ इच्छा होगी उस समय लूँगा।" तब भी वे नहीं जानते थे कि ठाकुर हमें पकड़े हुए हैं, अन्यत्र कहीं भी जाने की सामर्थ्य नहीं है।

इसी प्रकार दिन बीतते रहे। अन्त में, रहा नहीं गया, तो मैंने अपनी बड़ी जेठानी के समक्ष अपने मन की बात प्रकट की। उस समय वे भी कुछ नहीं कर सकीं, तो भी मुझे आश्वस्त किया कि वे निश्चय ही चेष्टा करके देखेंगी।

१. बाद में मेरी माँ ठाकुर के कार्यों के लिये मुक्त हस्त से व्यय किया करती थीं। उन्होंने अपने माता-पिता की स्मृति में काशी के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम में संक्रामक रोगियों के वार्ड का निर्माण कराया था।

तभी मेरे एक देवर, मेरे जेठ के समान ही सुयोग्य डॉक्टर बनकर उसी प्रकार बालिका वधू और एक वर्ष के पुत्र को छोड़कर पचीस वर्ष की उम्र में काल-कवलित हो गये। इस बार मेरी सास बिल्कुल टूट गयीं। मेरे श्वसुर भी छह-सात वर्ष पूर्व इहलोक से प्रयाण कर चुके थे। मेरी सास इस शोक को बर्दास्त नहीं कर सकी, खूब शोकातुर हो गयी।

पूजनीय शरत् महाराज मेरी सास को सांत्वना देने आये। मेरे घर को पवित्र करके, हम लोगों के पास बैठकर, बहुत-सी सांत्वना की बातें और ठाकुर के प्रसंग आदि सुना गये। उसी समय एक दिन पूज्य गौरी-माँ भी हमारे घर आयी थीं और उन्होंने ठाकुर की बहुत-सी दिव्य बातें सुनाकर हम लोगों को धन्य कर दिया था। उन दिनों गोवा-बागान में उनका स्कूल नया-नया ही शुरू हुआ था। वहीं मेरी दो छोटी बहनें पढ़ती थीं, उसी सूत्र से वे मेरे पिता के घर भी जाती थीं और कभी-कभी बड़े आनन्द से ठाकुर की बातें भी सुनाती थीं। उन दिनों की याद करके आज भी मुझे लगता है कि उस समय हम लोग कितने महान् सौभाग्य के पात्र हुए थे।

उसके बाद से मेरी व्याकुलता और भी बढ़ी। लगता है इस बार मेरी व्याकुलता से ठाकुर का आसन डगमगा उठा। ठाकुर ने एक सुयोग दिया – भक्तप्रवर किरन चन्द्र दत्त की बड़ी पुत्री शिवरानी मेरी एक अन्य देवर की बहू होकर कुछ दिनों के लिये हमारे घर को पवित्र करने आयी। वह बालिका मानो मूर्तिमान आनन्द थी। उसका मेरे प्रति बड़ा लगाव था। मेरे ये देवर आगरा कॉलेज में प्राध्यापक थे। जिस समय उनका विवाह हुआ, बहू काफी छोटी थी, इसलिये तीन-चार वर्षों तक उसे आगरा ले जाना सम्भव नहीं हुआ था। जब वह थोड़ी बड़ी हुई, उसके आगरा जाने की बात उठी। तब उसने माँ के श्रीचरणों में आश्रय लेने की इच्छा प्रगट की। किरण बाबू के घर पर प्राय: ही स्वामी ब्रह्मानन्दजी तथा अन्य संन्यासी आते-जाते थे। माँ ने भी कृपापूर्वककाशी में स्थित उनके 'लक्ष्मी-निवास' भवन में कुछ दिन रहकर उन्हें धन्य किया था। वे लोग सर्वदा माँ के दर्शन और प्रणाम का सौभाग्य पाते थे। अब की बार ठाकुर ने मेरे लिये भी सुयोग कर दिया। शिवरानी के साथ-साथ मेरा भी भाग्य जागा। सास की सहमति से मेरी दीक्षा का दिन निश्चित हुआ।

तो भी पुन: बाधा आयी। उन दिनों राधू का स्वास्थ्य बड़ा खराब था, तब थोड़ा-सा भी शोरगुल सहन नहीं कर पाती थी। इसलिये माँ उसे साथ लेकर उद्बोधन के भवन से बोसपाड़ा लेन के निवेदिता विद्यालय के बोर्डिंग में चली गयी थीं। इसलिये यह एक चिन्ता की बात थी कि उस समय माँ हमें दीक्षा देने को राजी होंगी या नहीं।

परन्तु शिवरानी के आगरा जाने का दिन बार-बार टलने से घर में भी थोड़ी अस्त-व्यस्तता की सृष्टि हुई। सब कुछ सुनकर करुणामयी माँ ने अपनी सहमति प्रदान की। यह बात सुनकर आनन्द से, मानो एक अवर्णनीय भाव से मुझे सारी रात नींद नहीं आई। भोर में ही स्नान आदि तथा गृहदेवता की पूजा समाप्त कर मैं कम्पित हृदय से अपनी सास के साथ बोसपाड़ा लेन गयी। मैं वैसे ही घूंघट काढ़े हुए थी। अत: राधू के बारे में भी माँ से कुछ पूछने का उपाय नहीं था।

खैर, वह शुभ घड़ी आयी, माँ ने एक-एक कर हमें पुकारा। वह जीवन का शुभ मुहूर्त था, निर्जन कमरे में माँ और मैं, अन्य कोई नहीं था। अपने जीवन में कभी मैं अपने मुँह से माँ को कुछ नहीं कह सकी थी। यदि असावधानी-वश मैंने यह शुभ मुहूर्त भी गँवा दिया, तो फिर दुबारा ऐसा मौका नहीं मिलेगा। मेरे अन्तर से पुकार उठी, ''अरे मूर्ख ! यही तेरा समय है, यही तेरा सुअवसर है, करुणामयी से जो भी माँगना है, माँग ले, फिर कभी ऐसा सुयोग नहीं मिलेगा।''

राधू बीमार थी, अत: माँ भी सब कुछ जल्दी-जल्दी कर रही थीं। माँ हमें एक-एक कर निवेदिता विद्यालय के बोर्डिंग के ठाकुर-घर में लेकर गयीं। वहाँ पर ठाकुर तथा विभिन्न देवी देवताओं के चित्र थे। माँ ने मेरी इष्टदेवी को दिखाया और फिर ठाकुर को दिखाते हुए बोलीं – ''बेटी, कभी भी कोई भी चीज बिना निवेदित किये मत खाना। एक बीड़ा पान भी खाओगी, तो निवेदन करके खाओगी और श्राद्ध का अन्न कभी भी मत खाना।'' माँ ने किसी विशेष विधि-निषेध में मुझे नहीं बाँधा, केवल इतने नियम को माँ स्वयं भी निष्ठापूर्वक पालन करती आ रही थीं।

करुणामयी माँ ने मुझे ज्योंही मंत्र दिया, त्योंही मैं उनके दोनों श्रीचरणों को पकड़कर कातर भाव से से बोल पड़ी – ''माँ ! माँ ! श्रीचरणों में स्थान दिया है न?'' सिर पर हाथ फेरकर, मेरे आँसुओं को पोंछकर करुणामयी बोल उठीं – ''हाँ बेटी, अवश्य दिया है !'' और मैं कुछ सोच नहीं सकी। अब भी मन-ही-मन याद करने पर माँ के उन कोमल चरणों का स्पर्श हृदय से अनुभव करती हूँ। लगता है वात रोग के कारण माँ के श्रीचरणों की ऊँगली में लोहे के तारों की एक अंगुठी थी, अब भी मानो उसका स्पर्श अनुभव करती हूँ। उसके बाद मैं भावाविष्ट के समान बाहर आयी। हमें प्रसाद देते हुये माँ थोड़े दुखी भाव से बोलीं – ''आज यहीं प्रसाद पाना चाहिये। पर क्या करूँ बेटी, राधू शोरगुल सहन नहीं कर पा रही है।'' हमारी उसी समय लौट आने की व्यवस्था थी। कब किस प्रकार आकर गाड़ी में बैठी, मुझे पता ही नहीं चला। मेरा यह आच्छन्न भाव एक सप्ताह बना रहा।

मेरे जीवन में माँ के साथ यही मेरा प्रथम और अन्तिम बातचीत थी। इसके बाद मैं फिर कभी माँ का दर्शन भी नहीं कर सकी। एक अति तुच्छ सांसारिक कारण माँ के श्रीचरणों के दर्शन में बाधा की रूप में खड़ी थी।

आगरा जाने के दो-तीन महीने बाद ही शिवरानी ठाकुर के श्रीचरणों में मिल गयी। शिवरानी की आयु कम होने के कारण मेरी सास भी उसके साथ आगरा गयी थीं। उन्होंने वहीं रहते सुना कि शिवरानी के वियोग से व्यथित होकर श्रीमाँ ने अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ कहा था – "रानी की सास वृद्धा है, तो भी उसने गर्भवती बहू को ताज के गुम्बज पर चढ़ने क्यों दिया? गुरुवार के दिन उसे लेकर आगरा क्यों गयी?"

मेरी सास बड़े सरल स्वभाव की थीं। श्रीमाँ नाराज हुई हैं, यह सुनकर कोलकाता आकर भी वे भय के कारण उद्बोधन जाने में संकोच करने लगीं। इसलिये मेरा भी पुनः जाना नहीं हुआ। माँ के लीला-संवरण तक मेरी सास वहाँ पुनः नहीं गयी और मुझे भी उनके श्रीचरणों के दर्शन का मौका नहीं मिला।

उसके कुछ समय बाद, जब अस्सी साल से अधिक आयु के माता-पिता को छोड़कर मेरे बड़े भाई काल-कवलित हो गये, तब अपनी शोकाकुल माँ को लेकर मैं पूज्य शरत् महाराज के पास आने-जाने लगी, उस समय उद्बोधन में माँ नहीं थी, महाप्रयाण कर चुकी थी। प्राणों में हाहाकार उठता, मन-ही-मन कहती – "इस बार तो सास के बिना आई हूँ, तब क्यों नहीं ऐसे बुलाया, माँ? उसके बाद से तुम्हारा दर्शन न कर सकी।" पूज्य गोलाप-माँ, योगीन माँ, खूब दिलासा देतीं, बड़ा स्नेह करतीं, लेकिन बहुत दिनों तक प्राणों का हाहाकार दूर नहीं हुआ, धीरे-धीरे सब सहन हो गया।

उन्हीं दिनों मैंने पूज्य शरत् महाराज से अपनी दोनों पुत्रियों की दीक्षा के लिये प्रार्थना की। महाराज ने सहर्ष अनुमति दी। छोटी पुत्री बहुत छोटी थी, तो भी उन्होंने कृपा की। यदि किसी दिन मैं जाकर कहती – "महाराज, वह मेरी बात नहीं सुनती।" तो वे तुरन्त उत्तर देते – "उसके महाराज बचपन में कितने शरारती थे, यह तुम नहीं जानती माँ।" इसके बाद वे उससे कहते – "क्यों रे, तू शरारत करती है, तुझे बिल्ली के बच्चे की तरह चारपाई के पाये से बाँधकर रखूँगा। तुझे दण्ड देता हूँ – जा, सारे देवताओं के चित्रों को धूप दिखा कर आ" – कहकर एक बड़ी अगरबत्ती जलाकर उसके हाथ में दे देते। उन दिनों उद्बोधन में उसका नाम था 'महाराज की बिल्ली की बच्ची'। अपने बचपन में ही उन लोगों को इतना स्नेह-दुलार मिला था कि अब शायद उन्हें इसकी अच्छी तरह याद भी नहीं होगी।

इस प्रकार शरत् महाराज सभी मातृहीन सन्तानों की पीड़ा को अपने विशाल वक्ष में धारण करके सभी को सांत्वना प्रदान करते। उनके स्नेह-प्रेम में मानो हमें माँ के ही स्नेह का ही आस्वादन मिलता। माँ के हृदय से युक्त होकर वे 'मातृ-भवन' में सबका मन परिपूर्ण कर देते थे।

"मेरी पुत्रियों की बचपन में ही दीक्षा हो जाने के कारण उन्हें गुरु का सान्निध्य नहीं मिला" – मेरे ऐसा कहने पर एक दिन एक वरिष्ठ संन्यासी ने कहा था – "इन सिद्ध गुरुओं के सान्निध्य की जरूरत नहीं होती, उनका एक बार नेत्रों से दर्शन कर लेने मात्र से ही कार्य हो जाता है।" उस समय मन से मानो एक कुहासा-सा छँट गया, तब अपने बारे में भी लगा – "ठीक ही तो है, फिर मैं शोक क्यों करती हूँ? माँ का एक बार दर्शन होने से ही तो हो गया!"

माँ हृदय में अनुभव करने की वस्तु हैं; रोग, शोक तथा सांसारिक झंझटों के बीच मैंने सदैव माँ के स्पर्श का अनुभव करती हूँ। करुणारूपिणी माँ ने मुझे अपने स्नेहमयी गोद में उठा रखा है – इसका तो मैंने हमेशा अनुभव किया है। उन्हीं की दो-एक बातें लिखकर मैं प्रसंग समाप्त करूँगी।

माँ ने मुझे किसी विशेष नियम में नहीं बाँधा। मुझसे उन्होंने केवल दो ही बातें कही थीं – "बिना निवेदित किये कुछ भी मत खाना और श्राद्ध का अन्न मत खाना।" मैंने माँ की इन दोनों बातों की आप्राण निष्ठा से पालन करने की चेष्टा की है। अपने पितृ-श्राद्ध के समय भी मैंने सारे दिन उपवासी रहकर रात में घर लौटकर भोजन किया है। लोग कितने प्रकार की बातें कहते हैं। पर बाद में जब "माँ की बातें" ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, तो उसमें पढ़ा कि कृपामयी माँ ने किसी भक्त से कहा था, "तुम लोग तो गृहस्थ हो, अपने ही घर में श्राद्ध हो, तो फिर क्या करोगे? प्रसाद खाना।" तब हमने आपस में चर्चा की – "माँ ने हमें तो ऐसा नहीं कहा।"

माँ ने अपने मुँह से कहा था – "हाँ बेटी, आश्रय दिया है...।" मैंने कई बार इस आश्वासन का मर्म अपने हृदय में अनुभव किया है। 'माँ की बातें' ग्रन्थ में देखा है, माँ राधू की कामनाओं से रक्षा की, ठीक उसी प्रकार वे हम लोगों की भी रक्षा करती हैं। जैसे रामनाद के राजा द्वारा कोषागार खोल

पुरखों की थाती

त्याग एको गुणः श्लाघ्यः किमन्यैर्गुणराशिभिः ।
त्यागाज्जगति पूज्यन्ते नूनं वारिद-पादपाः ।।

– एकमात्र त्याग ही सर्वाधिक प्रशंसनीय गुण है, अन्य गुणों की कोई जरूरत नहीं; इस जगत् में बादल तथा पेड़-पौधे भी अपने त्याग के कारण ही पूजे जाते हैं।

तपोमूलम् इदं सर्वं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ।
तदिन्द्रियाणि संयम्य तपो भवति नान्यथा ।।

– हे युधिष्ठिर, जो कुछ भी तुमने पूछा है, उन सबका मूल तपस्या ही है। यह तपस्या किसी अन्य प्रकार से नहीं, वरन् इन्द्रिय-संयम द्वारा ही सम्पन्न होती है।

देने की इच्छा व्यक्त करने पर राधू ने एक पेंसिल के सिवा और कुछ नहीं माँगा, उसी प्रकार (लखनऊ में रहते समय) मेरे लखपति पिता मुझे बाजार में ले जाकर जब मुझसे बोले – ''तुम्हारी जो इच्छा हो, ले लो।'' उस समय दो-चार हजार रुपयों का सामान खरीद लेने पर भी कोई हानि नहीं होती, परन्तु उसी क्षण याद आया – माँ ने कामनारहित होने को कहा था। मेरे नेत्रों के सामने माँ की मूर्ति आ गयी और मैंने कह दिया – ''पिताजी, मुझे कुछ नहीं चाहिये, सब कुछ तो है, व्यर्थ का बोझ लखनऊ से कोलकाता ले जाना होगा।'' घर लौटने पर सबने मुझे बुरा-भला कहा कि मैंने क्यों ऐसा मौका गँवा दिया। लेकिन वे लोग क्या जानें कि कौन मेरे हृदय में बैठकर मुझे कुछ खरीदने से मना कर रहा था ! मैंने चुपचाप कृपामयी माँ का स्मरण किया था।

माँ की अपार कृपा का स्मरण करके एक अन्य प्रसंग भी बताती हूँ। जब से माँ ने कृपा करके आश्रय दिया, तब से केवल यही लगता कि माँ कब कृपा करके मेरे पति की मति इस पथ पर लायेंगी। मैं हर रोज माँ से इस विषय में प्रार्थना करती। यह बात इसलिये भी बार-बार मन में आती, क्योंकि घर के कई लोगों ने एक-एक कर, किसी ने पूज्य शरत् महाराज से, किसी ने तत्कालीन मठ तथा मिशन के अध्यक्ष पूज्य महापुरुष महाराज से दीक्षा ले ली थी। एक बार जब मेरे एक देवर तथा उनकी पत्नी की दीक्षा महापुरुष महाराज से होनी निश्चित हो गयी, तब मेरे पति अपने काम के सिलसिले में बहुत दूर बिलासपुर में थे। दीक्षा के पूर्व वाले दिन मेरे मन में केवल यही धुन थी – ''माँ करुणामयी, करुणा करके उनकी मति इस ओर फेर दो।'' माँ बहुत दिनों पहले ही लीला-संवरण कर चुकी थीं। शाम को सहसा मेरे पति बिलासपुर से लौट आये। अगले दिन सुबह जलपान के बाद मेरे अनुरोध पर वे अपने भाई और उसकी पत्नी की दीक्षा देखने हम लोगों के साथ मठ गये। उन लोगों के दीक्षा लेने जाते समय मैं कातर होकर माँ से प्रार्थना कर रही थी, तभी सहसा मेरे पति ने आकर मुझे बताया कि महापुरुष महाराज उन पर भी कृपा करना चाहते हैं। वे बिना नहाये और खाकर भी आये थे, अत: आनाकानी करने लगे। मैंने तत्काल कहा – ''जो भी हो, कृपाप्राप्ति का कोई समय विचार नहीं होता, अभी दीक्षा ले लो।'' इस प्रकार महापुरुष जी की कृपा प्राप्त करके रात की ही गाड़ी से वे कर्मस्थल को लौट गये। मैं विस्मयपूर्वक माँ की अपार कृपा का स्मरण करने लगी।

इस घटना के कुछ काल बाद एक अन्य दिन मैं मठ गयी। संसार के विभिन्न झंझटों से मेरे पति का मन बड़ा विचलित था। हम लोगों के प्रणाम कर सिर उठाते ही शिव-तुल्य महापुरुष महाराज बोल पड़े – ''तुझे क्या चाहिये? बोल, क्या चाहिये?'' उस समय मानो वे वराभय-कर होकर चर्तुवर्ग देने को प्रस्तुत थे ! मेरे मन में ठाकुर की वह बात कौंध उठी – ''राजा से भेंट होने पर क्या तुम लौकी-कुम्हड़ा माँगोगे?'' फिर माँ ने कहा है, ''निर्वासना।'' महापुरुष महाराज तब भी उत्तर की प्रतीक्षा में मेरी ओर देख रहे थे। माँ ने ही मुझसे कहलवाया – ''महाराज, ठाकुर के श्रीचरणों में मेरी मति-प्रीति रहे; और कुछ नहीं चाहिये।'' महाराज अति प्रसन्न होकर बोले – ''होगा, होगा – तुम लोगों का होगा।''

इस प्रकार साक्षात् शिव की कृपा हजम करना, क्या माँ का आश्रय पाये बिना सम्भव हो पाता? माँ ने आश्रय दिया है, स्वयं अपने श्रीमुख से यह बात स्वीकार किया है, इसीलिये तो इस प्रकार सर्वदा अपनी सन्तान की रक्षा करती हैं। उस समय कुछ माँग लेने से, कौन जाने कितनी इच्छाओं के जाल में जकड़ना पड़ जाता?

एक अन्य समय पूज्य गंगाधर महाराज – उस समय वे मठ तथा मिशन के अध्यक्ष थे – ३१ दिसम्बर १९३४ ई. को कृपा करके अपने सारगाछी आश्रम से मेरे देवर के लालगोला स्थित मकान पर आये और वह रात वहीं पर बिताया। छोटा-सा मकान, जिसमें केवल तीन ही कमरे थे। पूजनीय महाराज बगल के कमरे में थे, दोनों कमरों के बीच में दरवाजा था। सुबह दरवाजा खोलकर उन्हें प्रणाम करते ही उन्होंने हास्यपूर्वक कहा – ''तुम लोगों के घर में मैं एक वर्ष रहा।'' मैं आश्चर्यपूर्वक बोल पड़ी – ''कैसे महाराज?'' वे हँसते हुए बोले – ''सन् ३४ में आया, आज सन् ३५ है। एक वर्ष हुआ या नहीं? हम सभी लोग हँस पड़े।

सुबह-सुबह बगीचे में आरामकुर्सी पर बैठकर सदानन्द शिशु-स्वभाव महाराज ने हम लोगों के साथ बहुत-सी बातें की। हम लोग भी उनके शिशु प्रकृति के कारण उनके साथ नि:संकोच हिल-मिल गये। अन्दर-बाहर कोई भेद नहीं। मैं कह बैठी – ''महाराज ! आज १ जनवरी है , आज के दिन ठाकुर कल्पतरु हुए थे, आप भी हम लोगों के लिये कल्पतरु हो जाइये।'' महाराज तत्काल बालसुलभ भाव छोड़ गम्भीर होकर बोले – ''बोलो, तुम्हें क्या चाहिये?'' तुरन्त करुणामयी माँ की पुण्य वाणी कौंध उठी – ''निर्वासना, निर्वासना।'' उस समय माँ ही मेरे मुँह से बोल पड़ी – ''महाराज, और कुछ नहीं, मैं गरम-गरम खाना बनाऊँगी और आप मेरे पास बैठकर खायेंगे।'' महाराज का रूप मानो बदल गया, वे बोल उठे – ''ठीक है, वैसा ही होगा, तू जो देगी, वही खाऊँगा।'' मैं आनन्द से विह्वल हो गयी – माँ ने ही मेरी रक्षा की। पूज्य गंगाधर महाराज ने भी शिशुवत बैठकर गरम भोजन करके – मेरी हृदय की सेवा स्वीकार करके मुझे धन्य कर दिया।*

❖ (क्रमशः) ❖

* उद्बोधन, वर्ष ५५, संख्या १२, पौष १३६० पृ. ६७५-६८०

दैवी सम्पदाएँ (२६) नातिमानिता

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

❖ (गतांक से आगे) ❖

अतिमानी व्यक्ति में निम्नांकित विकृतियाँ होती हैं।

(१) कर्तृत्व का अभिमान अतिमानी की प्रथम विशेषता है। जब प्रकृति के द्वारा ही समस्त कर्म किये जा रहे हैं, मनुष्य न चाहते हुए भी उन्हें करता है, अकर्म की स्थिति में रहना सम्भव नहीं है, तब कर्तृत्व-अभिमान किस लिये? फिर भी अहंकार से विमूढ़ चित्तवाला अपने आपको कर्ता मानता है। (३/३७)

(२) अंहकार के वशीभूत होकर मनुष्य अपने को कर्त्ता के साथ भोक्ता भी मानता है, जबकि वास्तव में वह भोक्ता नहीं है। वास्तविक भोक्ता तो परमात्मा ही है, जो जीवात्मा के रूप में शरीर में रहता है। (५/२९ तथा ९/२४)

(३) अतिमानी में मूढ़ता एवं जड़ता होती है। उसे ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते। यदि उसने आम को इमली समझ लिया, तो फिर वह उसे इमली ही मानेगा, चाहे कोई लाख कहे कि यह इमली नहीं, आम है। वह अड़ियल, जिद्दी और दुराग्रही होता है। वह दूसरे की उचित और सही सलाह भी नहीं मानता।

(४) अतिमानी में मूढ़ता में विवेक-शून्यता होती है। अच्छा-बुरा, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, हित-अहित और उपकार-अपकार आदि पर विचार कर समुचित निर्णय लेने की क्षमता उसमें नहीं होती।

(५) अतिमानी को आत्म-प्रशंसा प्रिय होती है। वह कभी अपनी बुराई सुनना पसन्द नहीं करता। इसलिये चापलूस, खुसामदी, चुगलखोर और मिथ्या प्रशंसा करनेवाले लोगों से वह घिरा होता है, जो उसे कभी वास्तविक स्थिति से अवगत नहीं होने देते और सच्चे हितैषी, सज्जन तथा सही सलाह देने वालों से कभी मिलने नहीं देते। अन्त में वे ही उसके पतन के कारण बन जाते हैं। **प्रशंसा ऐसी मदिरा है, जो कानों से पी जाती है, किन्तु उसका नशा मन में होता है, और वह वचन तथा कर्म से प्रकट होती है।** लोग प्रशंसा करनेवाले को अपना हितैषी समझते हैं, जबकि वह दूरान्तर प्रभावी विष का पान कराकर पतन का मार्ग प्रशस्त करता है, पर अतिमानी को इसका ज्ञान हीं हो पाता।

(६) अतिमानी में ऋजुता या सरलता नहीं होती। वह माया और कपट का आचरण करता है। उसमें मन, वाणी तथा कर्म की एकरूपता का अभाव होता है। वह सदैव वास्तविक रूप को छुपाकर नकली चेहरा – मुखौटा लगाने का प्रयास करता है और जो वह नहीं है, उसे विज्ञापित कर झूठी पूजा पाने का उपाय रचता है। वह धूर्त, विश्वासघाती और दुराचारी होता है। उसकी वाणी में मिश्री की डली होती है, वस्त्र बगुले के पंख होते है और सौन्दर्य मयूर का होता है, जिसे देखकर अज्ञानी मोहित हो जाते हैं, पर बुद्धिमान व्यक्ति पहचान जाता है।[१६]

(७) अतिमानी क्रोधी और लोभी होता है। अभिमान की ध्वजा क्रोध है और दण्ड है लोभ। क्रोध ही अभिमान को प्रकट करता है, उसे आगे बढ़ाता है और बुरे मनोविकारों के आघातों को सहने की अक्षमता प्रदान कर मान की रक्षा-पंक्ति की संरचना करता है। लोभ-दण्ड क्रोध-पताका का अनन्य सहयोगी है।

(८) अतिमानी परमात्मा को नहीं मानता, क्योंकि वह उसके लिये सहज प्रत्यक्ष नहीं है। वह तो योगमाया से प्रच्छन्न है। सांसारिक प्राणी, जो राग-द्वेष के द्वन्द्वात्मक मोह से अन्धा है, अहंकार के कारण जिसका अहं बृहत्तम है, जिसके चर्मचक्षु माया की चमक से चौंधिया गये हैं, उसे परमात्मा दिखेगा कब? वह तो अपने आपको ही प्रभु समझेगा। जगदाधार परमात्मा से वह द्वेष करता है। (७/२५-२७ तथा १६/१८)

(९) अतिमानी में आत्म-ज्ञान नहीं होता। वह दूसरों को तो जानता है, पर अपने को ही नहीं जानता। दूसरों को ज्ञान देता है, प्रकाशित करता है, पर स्वयं आत्मज्ञान प्राप्त करने, आत्मदीप बनने का प्रयास नहीं करता। दूसरों के दुर्गणों की जानकारी रखता है, कमजोरियों को पकड़ना चाहता है और दुर्व्यसनों से प्रसन्न होता है, पर अपनी बुराइयों तथा दुर्बलताओं

---

१६. तुलसी वेस सुवेस, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकी पेख, वचन सुधासम असन अहि॥

को नहीं पहचान पाता। यदि वह स्वयं को जानने लग जाय; अपने मन, शरीर, इन्द्रियाँ और उनके भोगों की अनित्यता को समझ ले, जीवन के महत्तर उद्देश्यों तथा सामाजिक दायित्वों की पहचान बना ले, तो उसे आत्मज्ञान हो जायेगा, तब वह अपने अभिमान का विसर्जन कर देगा।

(१०) अतिमानी में आत्मविश्वास की भी कमी होती है। दूसरे व्यक्ति के प्रति ही वह शंकालु हो – ऐसा नहीं है, अपितु अपने प्रति, अपने प्रत्येक कार्य के प्रति और प्रत्येक स्वजन-परिजन के प्रति भी अविश्वस्त रहता है। इसलिये वह उपलब्धियों के शिखर तक पहुँच नहीं पाता, यदि पहुँच भी गया, तो उन्हें पचा नहीं पाता, आत्मसात् नहीं कर पाता। 'महर्षि वशिष्ठ ने विश्वास को कुल की नारी और अहंकार को वेश्या की संज्ञा दी है। स्वामी रामतीर्थ ने विश्वास को राम और अहंकार को रावण कहा है।' आत्मविश्वास के बल पर ही संसार के सारे वीर, विजेता, वैज्ञानिक, राष्ट्रभक्त, विभूतिमान तथा ऐश्वर्यवान पुरुष हुए हैं। उन्होंने आत्मविश्वास के बल पर ही जीवन की सर्वोच्चता प्राप्त की है। आत्मविश्वास ही वह सर्वोत्तम साधन है, जिसके समक्ष अन्य समस्त भौतिक साधन नगण्य है। अभिमानी में इसका अभाव होता है।

(११) अतिमानी राग-द्वेष-विहीन नहीं होता। उसकी दृष्टि भेदमयी और हृदय करुणा, दया तथा मैत्री से शून्य होता है। उसके जीवन का उद्देश्य 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' न होकर 'बहुजन-निपीडनाय, बहुजन-दमनाय' होता है। वह अकारण ही हर किसी से वैर करता है और बिना कार्य के ही किसी के दायें-बायें होता है। पक्षपात, भाई-भतीजावाद, गुटबाजी आदि फैलाकर असमानता पूर्ण व्यवहार करता है।

(१२) वह अनासक्ति एवं अनासंग-भाव से कोई भी कार्य नहीं करता। उसके सम्पूर्ण कार्य कामनाओं तथा निहित-स्वार्थों की पूर्ति एवं वैयक्तिक हितों के निमित्त होते हैं। यज्ञ, दान, तप, आदि कर्म – व्यष्टि के अभ्युदय तथा समष्टि के विनाश के लिये होते हैं। उसकी सम्पूर्ण विभूतियाँ-सम्पदाएँ तथा ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ निजी भोग के लिये होती हैं, परोपकार में उनका उपयोग नहीं होता।

(१३) अतिमानी की प्रज्ञा स्थिर नहीं होती। उसकी बुद्धि उचित निर्णय लेने अथवा निश्चय करने में असमर्थ होती है। वह द्वन्द्वात्मक भावों में अविचल, सम तथा सन्तुलित नहीं रह पाता। अत: सुखों की प्राप्ति पर अति प्रसन्न और दु:खद क्षणों से असीमित दु:खी होता है। मान मिलने पर फूला नहीं समाता और अपमान होने पर आग-बबूला हो जाता है।

(१४) अतिमानी में दैवी सम्पदाओं – मानवीय मूल्यों का नितान्त अभाव होता है। उसमें निर्भीकता, अन्त:करण की पवित्रता, ज्ञान एवं निष्काम कर्म की भावना, दान, आत्मनिग्रह, लोकार्पित तथा लोक-संग्रह के निमित्त कर्म, सात्त्विक-भाव से स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जाशीलता, अचंचलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शारीरिक शुद्धता, द्वेषहीनता और निरहंकारिता जैसे महनीय गुण नहीं होते। अतिमानी की वाणी की कठोरता, कर्कशता तथा तीव्रता तो उसके हृदय की प्रतिच्छवि होती है। वह क्रूर-से-क्रूर, जघन्य-से-जघन्य तथा निकृष्ट-से-निकृष्ट कर्म कर सकता है। लज्जा, ग्लानि, संकोच, अनुताप, प्रायश्चित तथा शील जैसे गुण उसमें कहाँ हैं? वह तो मिथ्या आशा, मिथ्या कर्म, मिथ्या ज्ञान, और मोहित-चित्त तथा आसुरी प्रकृति का होता है। (९/१२) उसका ज्ञान विवाद के लिये, धन अहंकार के लिये और शक्ति परपीड़न के लिये होती है।

(१५) अतिमानी स्वयं को बहुत बड़ा, सर्वश्रेष्ठ, ऐश्वर्यवान्, सामाजिक, सकल-रस-भोगी, सिद्ध, बलवान, सुखी, सम्पन्न और कुलीन मानता है। उसे सब छोटे दिखाई देते हैं। उसकी धारणा है – "मेरे समान दूसरा कौन है? – **कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया**। इसे मैंने प्राप्त कर लिया है, उसे भी पा लूँगा। मैंने अपने इस शत्रु को मार डाला है, दूसरे को भी मार दूँगा।" उसे शुभ कर्मों के निष्पादन पर भी बड़ा गर्व होता है। मैं सर्वोच्च यज्ञ करूँगा, सबसे अधिक दान करूँगा आदि गर्वोक्तियाँ होती हैं। वह नास्तिक, विश्वास-विहीन, श्रद्धारहित तथा संकल्पक्षीण होता है। (१६/१३-१७)

पुराणों में ऐसे अनेक चरित्र हैं, जो अहंकार की प्रतिमूर्ति थे। दक्ष-प्रजापति बड़े अभिमानी थे। उन्होंने देवाधिदेव महादेव को अपमानित कर यज्ञ का आयोजन किया। उसमें उन्हें न तो आमंत्रित किया और न उनका यज्ञभाग ही दिया। परिणाम में यज्ञ का विध्वंस हुआ। पुत्री सती को भी पिता दक्ष द्वारा किये गये अपमान से आत्मदाह करना पड़ा। कामदेव को भी अपनी शक्ति पर बड़ा अभिमान था। उसने क्रोध में धनुष को कान तक तानते हुए पुष्प-बाण को छोड़कर शंकर के हृदय को बेध तो डाला, पर दण्डरूप उसे अपने प्राणों से ही हाथ धोने पड़े। कामदेव पर विजय पाकर नारदजी को अहंकार हो गया। उन्होंने बड़े अभिमान से मार-विजय की घटना भगवान विष्णु को सुनाई – **नारद कहेउ सहित अभिमाना**। भगवान ने उनके हृदय में उपजे अभिमान के अंकुर को शीघ्र उखाड़ दिया। बाली के अभिमान का तो ठिकाना ही नहीं था। भाई सुग्रीव को तिनके जैसा मानता था। जिसे प्रभु की भुजाओं के बल का आश्रय था, अधम बाली उसे मारना चाहता था, अत: प्रभु श्रीराम ने उसे एक ही वाण से मार दिया – **मम भुजबल आश्रित तेहि जानी, मारा चहसि अधम अभिमानी**। सम्पाति के अभिमान की भी सीमा नहीं थी, इसलिये वह सूर्य के समीप तक चला गया – **मैं अभिमानी रवि निअराया** –

पर वहाँ तक पहुँच नहीं सका। उसे देहाभिमान था। देहाभिमान तो जटायु को भी था, परन्तु चन्द्रमा नाम के एक मुनि ने उसके देहाभिमान को छुड़ा दिया था –

मुनि एक चन्द्रमा ओही,
लागी दया देखि करि मोही।
बहु प्रकार तेहि ग्यान सुनावा,
देहजनित अभिमान छुड़ावा।। ४/२७; ५/६१

रावण विख्यात अभिमानी था। मन्दोदरी ने उसे समझाया, पर रावण उसके नीतिपूर्ण वचनों को सुनकर हँसा – **विहंसा जगत् विदित अभिमानी**। अभिमान के कारण ही अपने भाई विभीषण पर चरण प्रहार किया। राजा बालि को अपने दान पर और ऋषि दुर्वासा को अपने तप पर अभिमान था। दुर्वासा ने निरपराध अम्बरीष को शाप दे दिया, पर उन्हें अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करना पड़ा। राजा नहुष का पतन अभिमान के कारण हुआ। राजा वेन राजसिंहासन पर बैठ जाने पर ऐश्वर्य से इतना मत्त, अभिमानी तथा उद्दण्ड हो गये कि राज्य में पवित्र कर्मों को रुकवाकर स्वयं को ही भगवान घोषित कर दिया।[१७] ऋषियों को ही उसकी हिंसा करनी पड़ी।

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दोनों भाई महाभिमानी असुर थे। हिरण्यकशिपु ने स्वयं को भगवान घोषित कर दिया, और हिरण्याक्ष ने सारे मूल्यों को उपेक्षित कर पूरी पृथ्वी को ही पाप-जल-राशि में डुबो दिया। अन्त में नृसिंह और वराह अवतारों में प्रभु ने उनका वध किया। कंस के अहंकार का ही परिणाम था कि उसने अपने अनित्य देह को नित्य जान उसकी रक्षा हेतु बहन देवकी के पुत्रों को मार डाला। दुर्योधन के अहंकार की चिनगारी ही महाभारत के दावानल में परिणत हुई थी, जिसमें पराक्रमी, ज्ञानी-विज्ञानी और योद्धा भस्मशेष हो गये। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कड़ी चेतावनी दी थी – यदि तू अहंकार के कारण मेरी बात नहीं सुनेगा और मेरे द्वारा नियुक्त कर्म नहीं करेगा, तो व्यर्थ ही विनष्ट हो जायेगा। (१८/५८-५९) राजा विश्वरथ भी घोर अहंकारी था, जिसने केवल अपनी भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिये कठोर तप एवं यज्ञ किये थे और ऋषि विश्वामित्र बनने पर भी स्वर्ग की नवीन सृष्टि से अपने ही अहं की तुष्टि करना चाहता था। त्रिशंकु को महत्त्वाकांक्षा के आगे उनकी साधना पराजित थी। उपनिषद् की कथा है – एक बार देवताओं को भी अभिमान हो गया। उन्होंने भगवान की शक्ति को ही अपनी शक्ति समझा। अन्त में एक तिनके को न प्रबल वायु उड़ा सकी और न अग्नि जला सकी। उन्हें मुँह की खानी पड़ी।

अतिमान आदि के कारणीभूत अज्ञान एवं मोह को हटाने के कुछ उपाय ये हैं –

(अ) ज्ञानं नश्यति अज्ञानम् – अविद्या, माया अथवा अज्ञान का अन्त ज्ञान से होता है। ज्ञान की कृपाण से अज्ञान के पाश को काटा जा सकता है। अज्ञान का अन्धकार ज्ञान के सूर्य के आलोक से ही मिटता है। असत्य और अनित्य वस्तु को नित्य तथा सत्य समझकर तदनुरूप आचरण करना अज्ञान है। अज्ञान के मेघ ज्ञान-सूर्य को आच्छादित कर लेते है, जिससे भ्रम या संशय की स्थिति निर्मित हो जाती है। व्यक्ति मोहित हो जाता है। विवेक-शक्ति क्षीण हो जाती है और हम संसार की मृग-मरीचिका में फँस जाते हैं। अज्ञान, माया अथवा अविद्या के कारण मनुष्य असत्य को सत्य मान लेता है। जैसे रस्सी में सर्प, परछाई, प्रतिध्वनि एवं सीपी में रजत का आभास यद्यपि असत्य है, फिर भी उनसे भय कम्प, स्वेद तथा लोभ आदि उत्पन्न होते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि उनकी सत्ता तभी तक है, जब तक उनका पारमार्थिक ज्ञान नहीं होता। पारमार्थिक ज्ञान होने पर इनकी पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। अविद्या और माया एक है। माया प्रकृति का रूप है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, जो क्षर और अनित्य है, जड़ तथा परिणामी है। आचार्य शंकर के अनुसार वह केवल प्रातिभासिक सत्य है, पारमार्थिक नहीं। जिस प्रकार घटादि उपाधियाँ असत्य हैं, अन्तिम सत्य तो मिट्टी है। हार-कुण्डल आदि नाम-रूप न पूर्व में थे और न बाद में रहेंगे। पूर्व-पश्चात् में रहनेवाला मात्र सोना ही सत्य है। इसी प्रकार आत्मा या परमात्मा ही अन्तिम सत्य है, शेष यह दृश्य-जगत् मिथ्या है, माया है। इसकी सत्ता न पूर्व में थी, न बाद में रहेगी। यह न सत् है और न असत्, अत: अनिर्वचनीय है। इसकी आवरण और विक्षेप दो शक्तियाँ है। आवरण-शक्ति से यह वास्तविक रूप को ढँक लेती है और विक्षेप शक्ति से अवास्तविक रूप की प्रतीति कराती है; जैसे रस्सी के वास्तविक रूप को ढँककर उसमें अवास्तविक सर्प का आभास कराना, इन्हीं शक्तियों का कार्य है। व्यष्टि एवं समष्टि भाव से यह अविद्या दो प्रकार की है। प्रथम व्यक्ति के निजी अज्ञान से सम्बद्ध प्रपंच है, जबकि द्वितीय का अभिधान माया है। जो ईश्वर की शक्ति होने से उसके साथ ही रहती है। मुक्तावस्था में जीव की व्यष्टि-अविद्या का विनाश होता है, समष्टि-अविद्या का नहीं। आचार्य शंकर के अनुसार यह विषयीगत होती है। व्यष्टि-अविद्या अध्यास भी कहलाती है, जो भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान है। इस भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान का आधार अज्ञान है। चूंकि अज्ञान असत्य है। अत: इसकी सत्ता नहीं है। यह ज्ञान का अभाव है, अभाव भाव नहीं होता, वस्तुरूप नहीं होता, इसलिये इसका असत्य होना स्वाभाविक है। सत्य त्रिकाल-बाधा-रहित होता है, शिव और सुन्दर होता है।

अहंकार की उत्पत्ति में अविद्या, माया अथवा अज्ञान की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। माया के कारण ही जीव मशीन के चक्के के समान घूम रहा है, हिरण के समान दौड़ रहा है,

१७. विष्णु-पुराण, १/१३/१३-२०

और संसार-महानद के प्रवाह में शव के समान बह रहा है। यह माया ज्ञान-विरोधी महासुप्ति-रूपिणी महाशक्ति है, जिसमें अपने रूप को न जाननेवाले संसारी जीव शयन करते है। यह त्रिगुणात्मिका है, इसीलिये नाना-रूपा है। इससे प्रभावित भेद-बुद्धि भी अनन्तशाख होने से अशिव है। इससे नष्ट होने पर ही एकत्व एवं समत्व की अनुभूति होती है, आसक्ति तथा ममत्व का त्याग होता है और विभिन्न जीवों में विद्यमान आत्मा के अनेकत्व की भ्रान्ति का कुहरा छँटकर एकात्मता के सत्य-सूर्य का दर्शन होता है। यह माया प्रमाण और विचार-असहिष्णु है। यह उसी को मोहित करती है, जो मूढ है और परमार्थ तत्त्व को नहीं जानता है।[१८] यह परमात्मा की सृष्टि है, इसके आश्रय से वह जगत् की रचना करता है, किन्तु इससे अलिप्त रहता है। माया के विलास से ही अनात्मा में आत्मबुद्धि और 'मैं-मेरा' आदि भाव जीव में उत्पन्न होते हैं, और वह सुख-दु:खादि भावों को भोगता है। सन्तों ने इसकी भरपेट निन्दा की है। निर्गुनिया सन्त कबीर ने कहा है कि यह माया बड़ी विचित्र है, कभी मरती नहीं है, शरीर ही मरता है। उन्होंने मैं-मैं, मेरी-मेरी न करने की सलाह देते हुये उसे विनाश का मूल, पैरों की बेड़ी और गले की फाँसी बताया है। ममता रस्सी है, जिसने संसार को बाँध लिया है।[१९] माया अज्ञान का रूप है। अज्ञान के अन्धकार से मूढ का अन्त:करण आच्छन्न हो जाता है। जिसके कारण वह यह नहीं समझ पाता है कि वह कौन है? कहाँ से आया है? कहाँ जाना है और उसका स्वरूप क्या है? किस बन्धन से बँधा क्या है? क्या कर्तव्य है? क्या अकर्तव्य है? क्या अधर्म है? केवल उदर और काम की क्षुधा को शान्त करने में तत्पर जीव इसी अज्ञान के कारण दु:ख पा रहा है।[२०]

इस अज्ञान का उच्छेद ज्ञान से ही होता है। ज्ञान क्या है? गीता के अनुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। शरीर क्षेत्र और आत्मा क्षेत्रज्ञ है, क्योंकि ज्ञानात्मकता सचेतन आत्मा का ही धर्म है, जड़ देह का नहीं। (१३/१) क्षेत्र क्षर तथा कूटस्थ आत्मा अक्षर है। सभी क्षेत्रों में भासमान क्षेत्रज्ञ अक्षर-तत्त्व ही परमात्म-तत्त्व है। यह परिवर्तनशील क्षर-देह इच्छा-द्वेष, सुख-दुख, मांस-मज्जा की सघनता (संघात) स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को दुराग्रहपूर्वक धारण करने की क्षमता आदि विकारों से युक्त है। इस क्षराक्षर-विषयक ज्ञान को जानने के लिये अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता आदि साधन-गुणों की आवश्यकता है, तभी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का तात्त्विक ज्ञान हो सकता है। योग-संसिद्धि, काल, आत्मवत्ता, श्रद्धा, संयतेन्द्रियता और प्रपन्नता की पात्रता भी अनिवार्य है। उल्लेखनीय है यदि दैवी सम्पदाओं में अमानित्व अन्तिम सम्पदा है, तो ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में यह प्रथम साधन है; क्योंकि ज्ञान की साधना, विनम्रता एवं विनयशीलता के बिना सम्भव नहीं है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ क्षराक्षर रूप से परे परमात्मा का पुरुषोत्तम रूप अव्यय पद है। ब्रह्म अपने तीनों रूप में नित्य रहता है। अव्यय-पद उन्हीं को प्राप्त होता है, जो मान और मोह से परे हैं, जिन्होंने आसक्ति के दोषों को जीत लिया है और जो सुख-दु:खात्मक द्वन्द्व से विमुक्त हो गये हैं। (१५/५) उस परमात्मरूप चेतन तत्त्व का यह जीवलोक अंशभूत है, तो अचेतन जड़ प्रकृति-तत्त्व भी उसी का दूसरा रूप है।

गीता दोनों को ही नित्य और शाश्वत मानती है। अक्षर-पुरुष क्षर-पुरुष के साथ होने के कारण त्रिगुणात्मक विषयों का उपभोग करता है और अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेता है। प्रकृति के गुणों का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह अपने आपको प्रकृति मान लेता है। उसे – **देहोऽहम्** का असत् भान हो जाता है। जिसके फलस्वरूप कर्त्तत्व-भोक्तृत्व के अंहकार के साथ आसक्ति एवं ममत्व के पाश में बँध जाता है। इस बन्धन से ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति मिलती है। जब वह जान लेता है कि मैं तो अक्षर, अविनाशी, कूटस्थ, अव्यय, नित्य, शाश्वत, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अचिन्त्य, अबध्य और सर्वगत आत्मा हूँ।[२१] – ब्रह्म हूँ, तब उसे न देहाभिमान होता है और न दैहिक सम्बन्धों में ममत्व। फिर वह इन्द्रियों के विषय-भोगों की अनित्यता जानकर उनमें आसक्त भी नहीं होता। जब उसे क्षराक्षर का ज्ञान हो जाता है, तब वह मेरे-तेरे का भी भेद नहीं करता। वह त्रिगुणातीत, समबुद्धि, समचित्त और समभाव को प्राप्त कर मोह-माया आदि से परे हो जाता है। ज्ञानरूपी तप से पवित्र वह परमात्मा के भाव को प्राप्त होता है। अज्ञान-सम्भूत संशय मिट जाता है। मान-दम्भ-दर्प आदि सब नष्ट हो जाते हैं। वह शुद्ध और बुद्ध हो जाता है। परम शान्ति को शीघ्र प्राप्त करता है – **ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेण अधिगच्छति**। (४/३९)

१८. विष्णु-पुराण, ५/३/१४-१५

१९. माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया शरीर।
आशा, तृष्णा ना मुई, यूं कहि गया कबीर॥
मैं-मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल विनास।
मेरी पग का पैंषणा, मेरी गल की पास॥
मोर-मोर की जेबरी, बंटि बांधा संसार।
दास कबीरा क्यों बंधे, जाके नाम आधार॥

२०. विष्णु-पुराण, ६/५/२१-२२

२१. गीता, २/१३-२०

❖ (क्रमशः) ❖
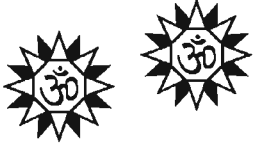
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (५)
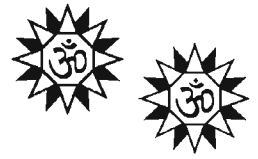
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों का सुसम्पादित रूप में एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्गपर्यावसानम् ।।४५।।

सूक्ष्म विषय अव्यक्त या प्रकृति में विलीन हो जाता है।

ता एव सबीजः समाधिः ।।४६।।

पूर्वोक्त समाधियाँ सबीज समाधि हैं (उनमें कर्मफल का बीज विद्यमान रहता है)।

व्याख्या – अब वितर्क और विचार समाधि का प्रतिपादन करते हैं।

निष्काम कर्म और उपासना न करके जो लोग योगाभ्यास में प्रवृत्त होते हैं, उन लोगों में सूक्ष्म विषय के चिन्तन करने, धारणा करने की शक्ति नहीं रहती है। ब्रह्म के विषय में चिन्तन करना उनके सामर्थ्य के बाहर है। इसलिये इस प्रकार के साधक को पहले स्थूल, बाह्य विषय का आलम्बन कर साधना प्रारम्भ करनी चाहिये।

साधक को पहले किसी स्थूल वस्तु का निरन्तर चिन्तन करने का अभ्यास करना चाहिये। प्रारम्भ में वे जितना भी एकाग्रचित होकर चिन्तन क्यों न करे, उनकी बुद्धि के सूक्ष्म न होने से वे समझ नहीं पायेंगे कि चिन्तन के समय चिन्तनीय विषय और बुद्धि के बीच में मन विचरण करके यह चिन्तन का कार्य कर रहा है। बहुत दिन ऐसा चिन्तन करते-करते, जब साधक की दृष्टि सूक्ष्म हो जायेगी, तब ध्येय वस्तु में उनका मन लीन हो जायेगा। मैं चिन्तन कर रहा हूँ या नहीं उसका बिल्कुल बोध नहीं रहेगा। वे अपना सुध-बुध खोकर आत्मविभोरवत ध्येय वस्तु का केवल अपने अन्त:करण में, अपने हृदय में अनुभव करेंगे। श्रीरामकृष्णदेव की बंशी से मछली पकड़ने की उपमा इस प्रसंग में स्मरणीय है।

इस प्रकार जब योगी सूक्ष्म विषय का चिन्तन करते-करते सभी वस्तुओं का मूल कारण प्रकृति में मन को लीन कर सकेंगे, तब सबीज समाधि की अन्तिम सीमा में पहुँच जायेंगे।

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।।४७।।

निर्विचार समाधि में सत्त्वगुण के प्रभाव से बुद्धि के स्वच्छ, शुद्ध हो जाने पर चित्त, मन सम्पूर्णत: स्थिर हो जाता है, यही वैशारदी प्रज्ञा है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।।४८।।

इस अवस्था में जो ज्ञान होता है, उसे ऋतम्भरा या सत्यपूर्ण ज्ञान कहते हैं।

श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।।४९।।

विश्वस्त व्यक्ति की वाणी और अनुमान साधारण वस्तु-विषयक ज्ञान को प्रकाशित करते हैं, किन्तु इससे उच्चतर समाधि-विषयक ज्ञान को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार-प्रतिबन्धी ।।५०।।

इस समाधि से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे अन्य संस्कारों के प्रतिबन्धक हैं।

व्याख्या – इस सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति में मन को सम्पूर्णत: एकाग्र करने से सभी ज्ञेय वस्तुयें मानो अपने अधीन हो जाती हैं, ज्ञात हो जाती हैं। जिस प्रकार स्वस्थ सबल धनी व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दुश्चिन्ता नहीं रहने पर सर्वदा प्रशान्ति का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार पूर्वोक्त साधक भी लेशमात्र भी मन में अशान्ति का अनुभव नहीं करते हैं। उसी शुद्ध प्रशान्त चित्त में इस संसार की सारी समस्याओं का समाधान मानो स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है। मानव-जीवन की कोई भी समस्या उन्हें विचलित नहीं कर सकती। यह बुद्धिमान लोगों की विचारशक्ति नहीं है, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। इस अनुभूति के कारण साधक का मन पूर्व संस्कारों के वशीभूत होकर सामान्य लोगों की तरह सांसारिक कार्यों में लिप्त नहीं होता।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।।५१।।

पूर्वोक्त संस्कारों के निरोध हो जाने पर, सभी संस्कारों के निरोधित होने के कारण निर्बीज समाधि उदित होती है।

व्याख्या – यह अवस्था जीवात्मा के पूर्ण विकास की है। तब जीव समस्त प्रकृति को स्वेच्छानुसार संचालित करने की शक्ति प्राप्त करता है। जो साधक इस अवस्था को प्राप्त करके भी, उसे कैवल्य से न्यून मानते हैं, वे अपने स्वरूप का चिन्तन करके इस समाधि से ऊपर उठ जाते हैं। योग-साधना की चरम अवस्था या पूर्णता 'कैवल्य-प्राप्ति' है।

समाधि में ईश्वर-दर्शन होने से, प्रकृति के भीतर का सब कुछ जाना जा सकता है। किन्तु प्रकृति के बाहर नहीं जाने से पूर्णज्ञान या ब्रह्मनिर्वाण नहीं होता है। जीव के द्वारा जितने प्रकार की आनन्द-प्राप्ति हो सकती है, उसे श्रीरामकृष्णदेव माँ काली के माध्यम से पाये थे। उसके बाद वे तोतापुरी से

संन्यास-ग्रहण करके ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त किये थे। यही मनुष्य के पुरुषार्थ की अन्तिम सीमा है।

प्रथम अध्याय, समाधिपाद समाप्त

द्वितीय अध्याय – साधनपाद

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः ।।१।।

तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये क्रियायोग हैं।

समाधि-भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।।२ ।।

समाधि का अभ्यास, और क्लेशमय विघ्नों को दूर करने के लिये क्रियायोग की आवश्यकता है।

व्याख्या – 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' (गीता-५-२१) अर्थात् बाह्य शब्दादि विषयों से अनासक्त नहीं होने से किसी सूक्ष्म विषय का अनुसन्धान करना सम्भव नहीं है। इसीलिये साधना की पहली बात ही 'तपः' अर्थात् तपस्या है। इसका तात्पर्य – शरीर मन को इस प्रकार तैयार करना है, जिससे वे बाहरी आघातों से प्रतिक्रिया न करके स्वस्थ और दृढ़ रह सकें।

'स्वाध्याय' और 'ईश्वर प्रणिधान' ठीक वैज्ञानिकों के सैद्धान्तिक अध्ययन (theoretical study) और व्यावहारिक प्रयोगशाला के कार्य (practical laboratory work) जैसे हैं। समाधि-अभ्यास के दो प्रयोजन हैं – संसार में देखा जाता है कि वृद्ध हो जाने पर कोई-कोई घर-द्वार, गृहस्थी के झमेले-प्रपंचों को टालने के लिये काशी या वृन्दावन चले जाते हैं। समाधि की बात भी ठीक वैसी ही है। जिन लोगों को यह संसार अच्छा नहीं लगता, वे यदि ईश्वर-चिन्तन में तन्मय हो जायँ, तो और कुछ हो या न हो, इस जगत के झमेले-प्रपंचों से तो आत्मरक्षा करना उनके लिये सहज हो जाता है। ऐसे बहुत से भक्तों, सत्त्वगुणी भोगप्रिय लोगों को देखा जाता है कि वे मुमुक्षु नहीं हैं, किन्तु कार्य बढ़ाने के लिये? निर्जन में निवास करते हैं। यदि ऐसे लोग स्वाध्याय के द्वारा साध्य-वस्तु का ज्ञान-प्राप्ति कर सकें, तो ये लोग-अनायास ही ईश्वर-चिन्तन करने में समर्थ हो सकेंगे।

योगियों की साध्य-वस्तु समाधि कैसे प्राप्त होगी, उसे प्रथम अध्याय में कहा गया है। अब दूसरे अध्याय में योग-साधना की योग्यता-प्राप्ति के सम्बन्ध में कहा जायेगा। मानव के दुःख का कारण है अज्ञान – अर्थात् अपने स्वरूप का विस्मरण होना। उस अज्ञान को दूर करने के लिये अनेकों प्रकार से प्रयास करने की आवश्यकता है। बुद्धि में थोड़ा-सा भी ज्ञानाभास प्रकाशित होने से मन को एकाग्र करना या समाधिस्थ करना सम्भव हो जाता है। उस समय पहली साधना है – सुख-दुख में अविचलित रहकर अभ्यास (योगाभ्यास) करना। दूसरी साधना है – आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में शास्त्र-अध्ययन करना। तीसरी साधना है – जीव के आत्मस्वरूप ईश्वर में मन को संलग्न करना।

ये तीनों साधनायें मनुष्य मात्र के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। भारतवर्ष में ब्रह्मचर्य-आश्रम में बालकों को इस तपस्या की शिक्षा दी जाती थी। 'तपस्या' शब्द 'तप' धातु से बना है। 'तप' धातु का अर्थ है 'ताप' देना अर्थात् कष्ट-सहन करना। इसीलिये तपस्या शब्द का अर्थ ताप अर्थात् कष्ट-सहन करने की क्षमता-प्राप्ति का अभ्यास करना है। 'तपस्या' शब्द का यथार्थ वास्तविक अर्थ आज बिल्कुल ही विकृत हो गया है। 'तपस्या' का क्या अर्थ है और उसका क्या उद्देश्य है, उसे मानो कोई कुछ भी नहीं जानता है।

प्रत्येक प्राणी को प्रकृति के साथ निरन्तर युद्ध करके अपने जीवन की रक्षा करनी पड़ती है तथा अपना विकास करना पड़ता है। प्राकृतिक नियमों का थोड़ा-सा भी उल्लंघन करने पर जो प्रतिक्रिया होती है, उसके निवारण के लिये मनुष्य को बहुत कष्ट-सहन करना पड़ता है। सर्वदा ही देखा जाता है कि तथाकथित अशिक्षित असभ्य लोग अर्धनग्न होकर ठण्डी-गर्मी में कठोर परिश्रम करके जीविकोपार्जन करते हैं। शिक्षित लोग अपने शरीर को बचाने के लिये हजारों प्रकार की व्यवस्था करके बाह्य दृष्टि से बहुत आराम से रहते हैं। जीवन के सुख-दुख का विचार करने से देखा जाता है कि अशिक्षित लोग आधि-व्याधि अर्थात् शारीरिक और मानसिक कष्ट को सहन करके निरोग और निश्चिन्त रहते हैं। वे लोग जो भोजन करते हैं, वह सहज ही पच जाता है और उन्हें प्रतिदिन अच्छी नींद आती है। उनकी सुनिद्रा में कोई व्यवधान नहीं आता। किन्तु शिक्षित लोगों के आराम के साथ-साथ कितनी अस्वस्थता बीमारी, शक्तिहीनता और अर्थहानि होती है, इसे सभी लोग जानते हैं। ग्रामवासियों के मुख से एक किम्वदन्ति सुना था – 'बाबू, ठण्डी और भात से मरते हैं।' अर्थात् बाबू लोगों को समान्य, थोड़ी-सी ठण्डी भी सहन करने की क्षमता नहीं है। शिशुपन से ही ठण्डी-गर्मी से शरीर को बचाने के लिये बहुत-सी व्यवस्था रहने के कारण प्रकृति के साथ आमना-सामना, संघर्ष नहीं होता। यदि कभी दुर्योग से प्रकृति के साथ सामना भी हो गया तो, सर्दी-खाँसी, ज्वर आदि कितनी बीमारियाँ हो जाती हैं ! दूसरी बात बाबूओं का 'भात' – यानि आहार के प्रति कितना लालच रहता है! किन्तु सहज पाचन-शक्ति के अभाव में स्वादिष्ट भोजन रहने पर भी, समुचित पाचन-क्रिया ठीक नहीं होने से कितना दुःख होता है, वह सबको ज्ञात है। पुराने वृद्ध लोग इसे जानते-समझते थे। इसीलिये बचपन से ही वे लोग प्रकृति के साथ रहने का अभ्यास कराते थे। इस प्रकार भाग-दौड़कर रहना कितना दुःखदायी है, वृद्ध लोग इसे जानते थे, इसीलिये हमारे शास्त्रों में तपश्चर्या को इतना गरिमामण्डित किया गया है। भारतीय सभ्यता का मूल स्वर था – 'सादा जीवन उच्चविचार – Plain living and high thinking. कुछ दिन पहले भी देखा हूँ, पर्णकुटीरवासी, भिक्षान्नजीवी, तपस्वी

सन्तों को इस देश के लोग देव-तुल्य सम्मान देते थे। इसका रहस्य अन्य कुछ नहीं है, वह रहस्य है – लोग सहज ही समझ सकते हैं कि हमलोग प्रकृति के दास होकर पराधीन हैं और ये तपस्वी लोग प्रकृति को अपने अधीन कर लिये हैं।

'स्वाध्याय' शब्द का अर्थ होता है – प्राचीन मतानुसार वेदाध्ययन या शास्त्र अध्ययन और योगशास्त्र के अनुसार मन्त्र-जप करना। तपस्या और स्वाध्याय के मूल उद्देश्य के सम्बन्ध में सचेत नहीं रहने से अध्ययन और जप दोनों ही विशेष फलप्रद नहीं होते हैं। जिसके अध्ययन से अभ्युदय के मार्ग पर चलते-चलते निःश्रेयस तक पहुँचने का सुराग, श्रोत पाया जाय, उसे 'स्वाध्याय' कहते हैं। मनुष्य को जानना होगा – वह क्या है? क्यों जीवन-धारण किया है? एवं बाद में किस अवस्था में रहेगा? उसकी क्या दशा होगी? चैतन्य स्वयं को ढँककर लाखों जन्मों तक, करोड़ों वर्ष अपने कर्म का फल-भोग कर रहे हैं। इच्छा करने पर यथोचित उपाय के द्वारा इस सृष्टि के सभी भोग उनके लिये सम्भव है तथा इच्छा-शक्ति के द्वारा ही वे जीवन के पार जाकर पूर्ण शान्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। इन तत्त्वों को जानना बिल्कुल ही कठिन नहीं है। पुराने वयोवृद्ध ग्रामवासीयों को अभी भी बहुत सी तत्त्व की बातें याद हैं। भारतवर्ष में सर्वत्र सबको इस तत्त्व को सिखाने की व्यवस्था थी। हिन्दू जाति इतने विध्वंश के बाद भी इस तत्त्वज्ञान के कारण ही अक्षुण्ण है, अब तक बची हुयी है। जो मूर्ख यह नहीं जानता है – मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? कहाँ जाऊँगा? तब तो उसमें और पशु-पक्षियों में कोई भेद नहीं दिखता है। योगी की बात तो बोलना ही व्यर्थ है। इसे प्रत्येक मानव को सबसे पहले जानना चाहिये।

'ईश्वर-प्रणिधान' शब्द का अर्थ योगशास्त्र के टीकाकारों ने कहा है – ईश्वर को फल समर्पित करके अपने कर्तव्य का पालन करना। ईश्वर प्रणिधान का मूल उद्देश्य है – जीवन सार्थक करने के लिये अनन्त शक्ति के आधार ईश्वर के साथ स्वयं को संयुक्त करना तथा उनसे शक्ति प्राप्त कर अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति हेतु अभ्यास करना अर्थात् भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक विकास हेतु प्रयास करना। ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं इसे प्रायः सभी धर्मावलम्बी ही जानते हैं, किन्तु जीव का उनके साथ नित्य, शाश्वत सम्बन्ध है, इसे प्रायः कोई भी नहीं जानता है। धर्म प्रचारित होते ही पुरोहितों के हाथों में पड़ गया। यदि पुरोहित इसका प्रचार करें कि ब्राह्मण के साथ ईश्वर का जैसा सम्बन्ध है, चाण्डालों के साथ भी ठीक वैसा ही सम्बन्ध है, तो उन लोगों का व्यापार कैसे चलेगा? इसीलिये शिक्षा के अभाव में सभी देशों में, सब जगह, सब समय मनुष्य स्वयं को ईश्वर से दूर हटाकर अपने आप को नीचा बनाकर रखता है। मनुष्यों में ऐसे तमोगुणी पशुवत् लोग भी हैं, जो पुरोहितों के हाथ में जीवन का सब उत्तरदायित्व सौंपकर निश्चिन्त होना चाहते हैं। पुरोहित लोग जो हितकर समझेंगे, उसे ही करते-करते बाद में स्वेच्छाचारी हो सकते हैं। जगन्मय 'ईश्वर की इच्छा' 'अल्लाह का हुक्म' 'कपाल-लेख' आदि ऐसे विचारों, सिद्धान्तों के दवाब में मनुष्य लाचार हो गया है, ये सब पुरोहितों के मस्तिष्कि की उपज है। इसको दूर करने का एकमात्र उपाय 'ईश्वर-प्रणिधान' है। इसका अर्थ – ईश्वर को मानना या किसी सम्प्रदाय में सम्मिलित होना, ब्राह्मणों की सन्ध्या-वन्दना या आधुनिक साधकों के द्वारा निर्दशित जप-ध्यान करना नहीं है। इसका अर्थ – निरन्तर ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में स्मृति को जाग्रत रखना है। हमारे देश में 'ईश्वर सर्वव्यापी हैं, यही बात सर्वत्र प्रचारित की गई थी। किन्तु सम्प्रति कहीं भी 'तत्त्व की चर्चा' नहीं हो रही है, इसी के कारण साम्प्रदायिक सिद्धान्तों में 'ईश्वर प्राणिधान' दब गया है।

स्वामी विवेकानन्द जी कहते थे – "The only God I believe in ... (is) the sum total of all souls." – "मैं एक ऐसे ईश्वर में विश्वास करता हूँ, जो सम्पूर्ण आत्माओं का समष्टि रूप है।" (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ३४४) हम सभी का ईश्वर से शाश्वत सम्बन्ध है। हमलोग उसी शक्ति समुद्र में एक-एक भँवर हैं। हमलोगों के तन-मन में जो भी शक्ति है, वह सब उसी ईश्वर से आ रही है। हमलोग जितना ही उनके समीप रह सकेंगे, उनके सम्बन्ध में सजग रहेंगे, सचेत रहेंगे, उतना ही हमलोगों के भीतर शक्ति का विकास होगा। हमलोगों के भीतर ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध है, उसे समझाने के लिये हिन्दुओं के वेद-पुराणों में बहुत प्रयास किया गया है। ईश्वर के साथ सम्बन्ध रखने से मन-बुद्धि निर्मल होती है। इसीलिये ईश्वर की शक्ति शुद्ध मन, बुद्धि के द्वारा प्रकाशित होती है। किसी विशेष व्यक्ति में पूर्व कर्मफल के कारण विशेष शक्ति का प्रकाश देखा जाता है, किन्तु ईश्वर के साथ सम्बन्ध नहीं रहने से, वही शक्ति दानवी-आसुरी-शक्ति में परिणत होकर संसार का अहित करती है। ईश्वर-प्रणिधानविहीन व्यक्ति केवल नीतिशास्त्र का अध्ययन कर नैतिक जीवन-यापन कर सकता है, किन्तु सामान्य प्रलोभन से अपनी रक्षा करने की क्षमता उसमें नहीं रहती है। बहुत से स्थानों पर देखा गया है कि भक्त-साधक और त्यागी संन्यासी गण सत्कर्म, परोपकार आदि करने के लिये जाते हैं तथा ईश्वर-प्रणिधान से विरत होकर, अधःपतित हो कर समाज में हास्यास्पद हो जाते हैं।

इसलिये तपस्या के द्वारा प्रकृति के साथ संघर्ष करने की शक्ति प्राप्त करके व्यष्टितत्त्व को समझ लेने पर, समष्टि के साथ स्वयं को संयुक्त कर मनुष्य सहजता से वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(१०९) जहाँ सत्य है, वहाँ न भय है

एक बार चीन के राजा चू की सेना ने सुंग राजा पर आक्रमण किया। सुंग की सेना ने डटकर मुकाबला किया। इससे चू की सेना को कई दिनों तक मोर्चे पर रहना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि सेना की एक सप्ताह की रसद ही शेष बची। तब चू ने अपने सेनापति को गुप्त वेश में जाकर सुंग की सेना का हाल जानने के लिये भेजा। सुंग की सेना की रसद भी समाप्त होने वाली थी। उसका सेनापति भी छद्मवेश में चू की सेना का हाल जानने निकला था। संयोग से दोनों सेनापतियों की भेंट हुई। दोनों ने एक-दूसरे की टोह ली।

वापस आकर जब चू के सेनापति ने उसे बताया कि शत्रु की सेना की रसद भी लगभग समाप्तप्राय है, तो उसने कहा – ''तब तो बाजी हमारे हाथ में है। हम हमला तेज करेंगे, तो शत्रु राजा तीन दिनों के भीतर ही आत्म-समर्पण कर देगा।'' परन्तु जब सेनापति ने बताया – ''मगर मैंने तो सेनापति को बता दिया है कि हमारी रसद भी समाप्त होने वाली है'' – तो चू नाराज होकर बोला – ''तुम्हें सच बोलने की क्या जरूरत थी? यह तुमने ठीक नहीं किया।''

सेनापति ने जवाब दिया – ''महाराजाधिराज क्षमा करें, जब सुंग सरीखे छोटे राजा का सेनापति सच बोल सकता है, तो चू जैसे बड़े राजा के सेनापति को तो उससे अधिक सत्यवादी होना चाहिये। सत्य सुनने की चीज नहीं, अनुभूति की है। सत्य बोलना हमारे हृदय का भाव होना चाहिये। व्यवहार भाव की सत्यता की क्रिया होती है, इसलिये व्यवहार छल-कपट रहित होना चाहिये। जिसकी वाणी तथा आचरण में सत्यता हो और शुद्ध नीयत हो तो उसे किसी भी प्रकार का डर नहीं, उसे सफलता मिलना निश्चित है।''

(११०) ईश्वर की सच्ची साधना

चीनी साधक मात्सु जंगल में रहकर दिन-रात भगवान की प्रार्थना में लीन रहता था। यही उसकी दिनचर्या थी। एक दिन उनके गुरु उसके पास आये। मात्सु की आँखें बन्द थी और वह भगवान की प्रार्थना में मग्न था। गुरु ने उससे कुछ कहा नहीं और वे उसके पास बैठ गये। फिर पास में पड़ी एक ईंट उठाकर उस पर पत्थर घिसने लगे। इससे मात्सु का ध्यान भंग हुआ। उसने आँखें खोलीं, तो पास में गुरु को बैठा पाया। उसने गुरु से पूछा – ''यह आप क्या कर रहे हैं?'' गुरु ने जवाब दिया – ''इस ईंट को घिसकर मैं शीशा बना रहा हूँ।'' मात्सु ने साश्चर्य पूछा, ''ईंट को घिसने से भला शीशा कैसे बनेगा? इसमें आप कभी सफल नहीं होंगे।'' इस पर गुरु ने उत्तर दिया – ''जब यह असम्भव है, तो निर्जन में साधन, तप और प्रार्थना का क्या प्रयोजन? भगवान सर्वव्यापी हैं और कण-कण में बसते हैं। भगवान ने मनुष्य जन्म समाज में रहने के लिये दिया है। समाज में रहकर लोगों की सेवा में उनके दुःख-दर्द को दूर करने में स्वयं को लगाना ही ईश्वर की सेवा और ईश्वर की सच्ची उपासना है।

(१११) गुरु-चरणों में ही गंगा है

दासगणू महाराज सन्त साई बाबा से बड़े प्रभावित थे और वे उन्हें अपना गुरु मानते थे। वे जहाँ भी जाते, वहीं बाबा का खूब बखान करते थे। साई बाबा की यश-सुरभि को महाराष्ट्र में फैलाने में दासगणू महाराज का बड़ा योगदान था। एक बार शिरडी जाने पर महाराज ने प्रयाग जाकर गंगा-स्नान करने की इच्छा व्यक्त की। बाबा ने मुस्कुराकर कहा – ''रे मूर्ख, गंगा-स्नान के लिये तुझे इतनी दूर जाने की क्या जरुरत हैं? मन में अगर पक्का इरादा हो, तो आदमी अपने स्थान पर ही सब कुछ पा सकता है। प्रयाग तो यही है। तुम्हें वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं।''

दासगणू ने सुना तो उन्होंने दण्डवत प्रणाम किया। उठकर खड़े हुये तो उन्हें बाबा के पैर के अंगूठे से जलधारा बहती दिखाई दी। महाराज गद्‌गद हो गये। उनकी आँखों से अश्रुधारा बह निकली और मुँह से ये शब्द निकल पड़े –

अगाध शक्ती अघटित लीला तव गुरुराया।
जड जीवा ते भवि तराया तू नौका सदया।।
वेणीमाधव आपण होऊनी प्रयाग पद केले।
गंगा यमुना द्वय अंगुष्टी प्रवाह दाखविले।।

– हे गुरुवर ! आपका यह अद्‌भुत अपूर्व चमत्कार मानो भव -संसार को पार करानेवाली नौका है। हे वेणीमाधव, आपने अपने चरण-कमल के अंगूठे से गंगा-यमुना को प्रवाहित करके मेरी इच्छा पूरी कर दी है।''

इतना कहकर उस प्रवाह में डुबकी लगा दी। सच है, शिष्य के सच्चे हृदय से निकली प्रार्थना गुरु की कृपा से तत्काल पूरी हो जाती है।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेकानन्द विश्वविद्यालय का तृतीय वार्षिकोत्सव

विगत ४ जुलाई, २००८, को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय की स्थापना की तृतीय वर्षगाँठ मनाई गयी। इस अवसर पर रामकृष्ण संघ के परम अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज के सभापतित्व में एक विशेष दीक्षान्त समारोह का भी आयोजन किया गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने विश्वविद्यालय के नव-निर्मित केन्द्रीय भवन का उद्घाटन भी किया। 'भारतीय अन्तरिक्ष अनुसन्धान संस्थान (ISRO – VRS) के एक विशेष परियोजना के अन्तर्गत विश्वविद्यालय परिसर में स्थापित 'विवेक-दिशा' ग्राम-संसाधन केन्द्र (विलेज रीसोर्स सेन्टर) का उद्घाटन इसरो के अध्यक्ष डॉ. जी. माधवन नायर ने किया। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के अध्यक्ष प्रो. एस. के. थोरट कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव स्वामी प्रभानन्द जी ने समारोह की अध्यक्षता की और नरेन्द्रपुर तथा राँची, मोराबादी के विभागीय केन्द्रों से उत्तीर्ण होने वाले छात्रों को डिप्लोमा प्रदान किये।

प्रा. शंकरी प्रसाद बसु का सम्मान

इस अवसर पर एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ – प्रो. शंकरी प्रसाद बसु को स्वामी विवेकानन्द, भगिनी निवेदिता तथा सुभाष चन्द्र बोस विषयक उनके ऐतिहासिक शोध कार्यों पर डी.लिट्. की उपाधि से अलंकृत किया गया। उपाधि को स्वीकार करते हुये प्रो. बसु ने सभा को निम्नलिखित शब्दों में सम्बोधित किया –

"आज ४ जुलाई शुक्रवार, २००८, यह एक महापुण्य दिन है – स्वामी विवेकानन्द की महासमाधि का दिन, अमेरिका की स्वाधीनता का दिन और रथयात्रा का दिन। यह कार्यक्रम भी पुण्यतीर्थ बेलूड़ मठ में आयोजित हुआ है।

"मैं आप सभी लोगों से शुभकामनाओं तथा आशीर्वाद की याचना करता हूँ। मेरे जीवन का यह एक दुर्लभ क्षण है, क्योंकि मैं पहले कभी एक साधारण बालक था और आज विवेकानन्द विश्वविद्यालय के तृतीय स्थापना दिवस के उद्घाटन तथा विशेष दीक्षान्त कार्यक्रम के मंच पर आकर सम्मानित डी.लिट् की उपाधि ग्रहण करने के लिये उपस्थित हुआ हूँ। मैं स्वयं के प्रति प्रदर्शित इस विराट् सम्मान को विनय तथा कृतज्ञतापूर्ण चित्त के साथ स्वीकार करता हूँ।

मुझे प्रदत्त इस सम्मान का उद्देश्य क्या है?

एक घटना का स्मरण हो आता है। अनेक वर्षों पूर्व जब मैं कोलकाता विश्वविद्यालय में एम.ए. क्लास का छात्र था, तभी एक दिन एक सहपाठी मित्र के साथ भविष्य के शोध हेतु विषय के चुनाव पर चर्चा के दौरान मैंने कहा था – "मेरे विषय होंगे स्वामी विवेकानन्द।" मेरे मित्र ने कटु शब्दों में पूछा था – "तुम्हारे विषय होंगे 'विवेकानन्द'? आश्चर्य की बात है! एक ऐसे मध्ययुगीन भावों में ढले व्यक्ति, जिनका व्यक्तित्व तथ्यों और मिथकों का एक सम्मिश्रण मात्र है।" यह सुनकर मेरा हृदय तिलमिला उठा था। उचित तो यह होता कि मैं उनकी ईट का जवाब पत्थर से देता, परन्तु ऐसा नहीं हो सका था।

इसके कुछ वर्षों बाद जब सुश्री मेरी लुई बर्क ने अपने कालजयी ग्रन्थ 'स्वामी विवेकानन्द इन अमेरिका : नीउ डिस्कवरीज' (अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द : नवीन खोजें) को आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित कराना आरम्भ किया, तब मैंने तथा मेरे मित्र सुनील बिहारी घोष ने निश्चय किया कि हम भी भारतीय परिप्रेक्ष्य में ऐसे ही शोध का प्रयास कर सकते हैं।

शोध कार्य आरम्भ हुआ। इसका सुफल निकला – एक विशालकाय ग्रन्थ के रूप में – "विवेकानन्द इन इंडियन न्यूज-पेपर्स" (भारतीय समाचार-पत्रों में विवेकानन्द)। उसके बाद, पिछले तीस वर्षों से अधिक काल से भी वह कार्य चल रहा है। इस सिलसिले में कई बार अखिल भारतीय अनुसन्धान-यात्रा पर भी जाना पड़ा, जिसमें संगी रहे – माया बसु, विमल कुमार घोष, लक्ष्मीकान्त बड़ाल तथा विश्वनाथ बसू। सामग्री भी बृहत् परिमाण में संग्रहित हुई, जिसके आधार पर कई अँग्रेजी तथा बँगला ग्रन्थों का सृजन हुआ। अँग्रेजी में प्रमुख है – 'स्वामी विवेकानन्द इन कन्टेम्पोरेरी इंडियन न्यूज' (दो खण्ड प्रकाशित तथा तभी तीन खण्ड लेखनाधीन)। और बँगला ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं – सात खण्डों में रचित 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष'।

इन समस्त शोधों तथा लेखन के दौरान यह बात निर्विवाद रूप से उभरकर सामने आयी – विवेकानन्द ने ही नवीन भारत की सृष्टि की थी। परन्तु उनका मार्ग सुगम नहीं रहा।

विश्व मंच पर उनके आविर्भाव के बाद जिस समय सारा भारत उनके नाम को लेकर उन्मत्त हो रहा था, उस समय विभिन्न 'समाज' 'मिशन' तथा 'सोसायटी' के लोगों ने अपना वर्चस्व खो बैठने की आंशका से उनके ऊपर हिंसक आक्रमण शुरू कर दिया। इस तुमुल संघर्ष को भेदकर विराट् व्यक्तित्ववाले जो विवेकानन्द उभरकर आये, वे केवल अतीत के ही नहीं, अपितु वर्तमान तथा भविष्य के भी पथ-प्रदर्शक हैं। विवेकानन्द शाश्वत हैं, तथापि वैचारिक दृष्टिकोण से वे कितने आधुनिक हैं! उन्होंने निर्भीकतापूर्वक घोषणा की थी – सुधार के छोटे-मोटे कार्यों से भारतवर्ष की उन्नति नहीं होगी, इसके लिये सर्वांगीण उत्थान की जरूरत है। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय कर्त्तव्य था नारियों तथा जनसाधारण की उन्नति और अस्पृश्यता की कुत्सित प्रथा से मुक्ति। वे सर्वदा विज्ञान की शिक्षा को बढ़ावा देते रहे। साम्राज्यवादियों द्वारा समर्थित डार्विन के 'योग्यतम को ही जीवनाधिकार' (Survival of the fittest) के सिद्धान्त को उन्होंने चुनौती दी थी। अपनी रचनाओं में उन्होंने ललित-कलाओं तथा साहित्य पर भी मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। वे सार्वभौमिक धर्म के उपदेशक और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्वासी थे। ऐसे विवेकानन्द मिथक नहीं हो सकते, अपितु, वे तो एक विराट् आधुनिक मनीषा की अभिव्यक्ति हैं, वे एक कालजयी महामानव हैं।

आगे बढ़ने के पहले मैं स्वामी प्रभानन्द, स्वामी चेतनानन्द तथा श्री लक्ष्मीनिवास झुनझुनवाला का स्मरण कर लेना चाहूँगा, जो निरन्तर मेरा समर्थन तथा सहायता करते रहे हैं।

एक चुनौती और है। दैनिक 'स्टेट्समैन' के सम्पादक एस.के रैटक्लिफ का निवेदिता विषयक निम्नांकित उद्गार भला सत्य हो सकता है? – "नव-भारत के निर्माण में कौन -कौन-सी शक्ति सक्रिय है, यह अब भी अस्पष्ट है, परन्तु यह बात पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उन शक्तियों में से कोई एक भी ऐसी नहीं है, जो भगिनी निवेदिता के चरित्र, जीवन तथा कार्ययोजना में उनसे आगे निकल सकी हो या उनकी बराबरी कर सकी हो।" फिर यह भी पूछा जा सकता है कि जिन्हें स्वामीजी ने निवेदिता नाम दिया था, वे ही क्या रवीन्द्रनाथ की 'लोकमाता' और जगदीशचन्द्र बसु के 'विज्ञान-मन्दिर' की 'दीपधारिणी' हो उठी थीं? क्या कारण है कि चित्रकला के आचार्य अवनीन्द्रनाथ ने उनके साथ कादम्बरी के 'महाश्वेता' की तुलना की है और आचार्य नन्दलाल बोस ने कहा था – 'देवी उमा'? क्या कारण है कि श्री अरविन्द ने उनके विषय में 'अग्निशिखा' शब्द का प्रयोग किया था और विवेकानन्द ने लिखा था, "तुम्हारे भीतर जगत् को हिला देने की शक्ति विद्यमान है"?

विवेकानन्द विषयक शोध के साथ-ही-साथ २० वर्षों तक उपरोक्त निवेदिता विषयक उक्तियाँ की सत्यता पर भी अनुसन्धान चलता रहा। इसके फलस्वरूप मुझे निवेदिता के सर्वांगीण अवदान का कुछ आभास प्राप्त हुआ। ये तथ्य बँगला में 'लोकमाता निवेदिता' ग्रन्थ के ४ खण्डों में और अँग्रेजी में उनकी पत्रावली के २ खण्डों में प्रकाशित हुए। इनमें श्री माँ सारदा देवी, श्रीरामकृष्ण के शिष्य तथा शिष्याओं और स्वामी विवेकानन्द तथा उनके शिष्यों के अमूल्य सान्निध्य की झाँकी मिलती है; साथ ही उस युग में विख्यात कई अन्य लोगों का चरित्र सुस्पष्ट रूप से प्रस्फुटित हो उठा है।

सुभाषचन्द्र बोस जब केवल १५ वर्ष के थे, तभी स्वामी विवेकानन्द ने उनके जीवन में प्रवेश किया और आजीवन उनका त्याग नहीं किया। सुभाषचन्द्र बोस का व्यक्तित्व मूलत: आध्यात्मिक था। इसके अतिरिक्त वे विद्वान् तथा राजनीतिज्ञ भी थे। वे भारत के महान् राष्ट्र-निर्माताओं में एक थे और 'राष्ट्रीय योजनाबद्ध विकास' के अग्रदूत थे। रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में सुभाषचन्द्र 'देशनायक' थे। उक्त विषयक शोध दो ग्रन्थों में प्रकाशित हुआ है – 'समकालीन भारते सुभाषचन्द्र' तथा 'सुभाषचन्द्र ओ नेशनल प्लानिंग'।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन का विषय उठते ही सुभाष सर्वदा भावुक हो उठते थे – "स्वामी विवेकानन्द के विषय में कुछ लिखते समय मैं आनन्द-विभोर हुए बिना नहीं रह सकता। ... वे अपने त्याग में असंयमित, कर्म में अथक, प्रेम में असीम, विद्या-बुद्धि में गहन एवं बहुमुखी, भावुकता में अतिरेकी तथा संघर्ष में निर्मम थे और साथ ही वे एक शिशु के समान सरल थे। हमारे इस जगत् में उनके जैसा व्यक्तित्व दुर्लभ है।"

अन्त में मैं गम्भीर आवेग के साथ अपने उन दिनों का स्मरण करता हूँ, जब मैं इन संन्यासियों के श्रीचरणों में बैठा हूँ – स्वामी अभयानन्द, ओंकारानन्द, वीरेश्वरानन्द, गम्भीरानन्द, भूतेशानन्द, रंगनाथानन्द, नित्यस्वरूपानन्द, लोकेश्वरानन्द और सम्प्रति स्वामी आत्मस्थानन्द – इन पुण्य क्षणों में मुझे स्वामी विवेकानन्द के आलोक से उज्ज्वल मूर्तियों का आभास मिला है। यहाँ पर मैं हावड़ा के विवेकानन्द इंन्स्टीट्यूशन के शिक्षकों – मृगेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, सुधांशु शेखर भट्टाचार्य तथा राधाकान्त मल्लिक का भी स्मरण करता हूँ। इन सभी लोगों का तथा आपका भी आशीर्वाद मुझ पर वर्षित हो।

दक्षिण अफ्रीका में रामकृष्ण मिशन द्वारा निर्मित सेवाश्रम

विगत ६ अगस्त, २००८, मंगलवार को क्वाजुलू-नटाल (दक्षिण अफ्रीका) के वित्त तथा आर्थिक-विकास मंत्री माननीय डॉ. जेड. एल. एमखीजे द्वारा 'रामकृष्ण अबालिन्दी होम (सेवाश्रम)' का उद्घाटन किया गया। रामकृष्ण सेन्टर

ऑफ साउथ आफ्रिका ने इस सेवाश्रम का निर्माण करने के बाद इसके संचालक-मण्डल को सौंप दिया। यह सेवाश्रम प्राणघाती रोगों की चिकित्सा हेतु निर्मित हुआ है। इसके तीन विभागों में पुरुषों के लिये १५, महिलाओं के लिये १५, बच्चों के लिये १०, तथा बच्चों के साथ रहने के इच्छुक माताओं के लिये ५ – इस प्रकार कुल मिलाकर ४५ बिस्तर हैं। इसके अलावा कार्यालय, भण्डार-गृह, शौचालय आदि भी बने हैं। यह सेवाश्रम इस अंचल के एड्स तथा कैंसर से पीड़ितों के लिये बहुत दिनों से आवश्यक समझी जा रही कमी की पूर्ति करेगा। रामकृष्ण मिशन द्वारा दक्षिण अफ्रीका में प्राणघाती रोगियों की सुविधा के लिये बनाया गया यह दूसरा सेवाश्रम है। इसके पहले क्वामाशु में ३० बिस्तरों का एक सेवाश्रम बनाया जा चुका है। इस अवसर पर मंत्रीजी ने बताया कि यह सेवाश्रम केवल स्वास्थ सम्बन्धी सेवा ही नहीं करेगा, बल्कि यह भारतीयों तथा अफ्रिकियों के बीच अन्तर्जातीय, अन्तर्धर्मीय तथा अन्तर्भाषीय समझ को विकसित करने के एक सर्वांगीण प्रयास का भी प्रतीक है।

मदुरै में विद्यालय की रजत जयन्ती

१२ जुलाई, १९०८ को श्रीरामकृष्ण मठ, सारदा विद्यालय ने अत्यन्त उत्साहपूर्वक अपना रजत जयन्ती मनाया।

१९८३ ई. में डॉ. षड्मुखम तथा श्री अर्धनारी ने एक छोटी-सी झोपड़ी में ४० बच्चों को लेकर इस विद्यालय का श्रीगणेश किया था। वही अब क्रमश: विकसित होते हुये एक सर्वांगीण नर्सरी तथा प्राइमरी स्कूल में परिणत हो चुका है। जिसमें ८० छात्र पढ़ रहे हैं।

मठ द्वारा इस जयन्ती को मनाने के लिये एक दिन भर का समारोह आयोजित किया गया था। प्रात:काल ७.३० बजे मन्दिर में पूजा तथा होम के साथ समारोह आरम्भ हुआ। कार्यक्रम के प्रारम्भ में मठ के साधु-संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों द्वारा वेद-पाठ और छात्रों तथा भक्तों द्वारा तमिल शास्त्रों की आवृत्ति के उपरान्त सुप्रसिद्ध व्यवसायी श्री नलिनी स्वामी कुप्पूचेट्टी द्वारा मठ-परिसर में स्वामी विवेकानन्द की एक मूर्ति का अनावरण हुआ।

रामकृष्ण मिशन कोलम्बो के स्वामी सर्वरूपानन्द जी ने मूर्ति की आरती उतारी और भक्तों ने पुष्पांजलि प्रदान की। विद्यालय के छात्रों तथा कर्मचारियों ने जय-जयकार किया।

इस अवसर पर आयोजित सभा में रामकृष्ण मिशन सिंगापुर के श्री एस.एम. अरुमुखम ने अपने हार्दिक उद्गार व्यक्त किये। प्रात: कालीन सत्र में ही डॉ. षड्मुखम ने छात्रों की समिति का उद्घाटन किया। स्वामी कमलात्मानन्द जी ने सभी गण्यमान्य अतिथियों तथा शुभचिन्तकों का स्वागत किया और भविष्य के लिये उनके निरन्तर सहयोग के लिये अनुरोध किया। सभी के लिये चाय तथा भोजन की भी व्यवस्था हुई थी। इस प्रात:कालीन सत्र में लगभग १५०० भक्त, शुभचिन्तक, छात्र तथा अभिभावक उपस्थित थे।

अपराह्न में ३.३० बजे छात्रों तथा शिक्षकों द्वारा भजन के साथ सायंकालीन सत्र आरम्भ हुआ। मदुरै तथा बाहर से भी आये हुये अनेक प्रसद्धि वक्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये और मदुरै के बच्चों को उच्च कोटि की शिक्षा प्रदान करने के लिये विद्यालय की सराहना की। सबने विद्यालय के द्वारा मानवता को समर्पित सेवा की सफलतापूर्वक २५ वर्ष पूरा कर लेने पर मठ तथा स्कूल के कर्मचारियों को बधाई दी।

इस अवसर पर डॉ. षड्मुखम ने एक स्मारिका का विमोचन भी किया, जिसकी पहली प्रति सिंगापुर के श्री एस.एन. अरुमुखम को प्रदान की गयी।

स्वामी कमलात्मानन्द जी ने समस्त वक्ताओं तथा अतिथियों को धन्यवाद दिया और सभी शिक्षकों तथा आमन्त्रित गण्यमान्य लोगों को स्मृति चिन्ह प्रदान किया।

विद्यालय के छात्रों द्वारा 'मीनाक्षी-विवाह' नामक एक लघु नाटक के मंचन के साथ कार्यक्रम समाप्त हुआ।

करीब ३५०० लोगों ने सायंकालीन सत्र में भाग लिया। सबके लिये निशा भोज की व्यवस्था थी। ❖❖❖